# पाणिनि व्याकरण में प्रजनक प्रविधियां

H
294.163 Sh 23 P

H
294.163
Sh 23 P

डा. रमानाथ शर्मा

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

# पाणिनि व्याकरण में प्रजनक प्रविधियाँ

डॉ. रमानाथ शर्मा
एम. ए. (इलाहाबाद, आगरा)
पी-एच.डी. (रॉचेस्टर)

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

© केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
प्रथम संस्करण : मार्च 1976

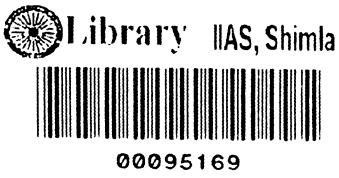


मूल्य : रु. 5.50

मेहरा आफसेट प्रेस, आगरा 282 003

# आमुख

केंद्रीय हिंदी संस्थान प्रतिवर्ष हिंदी भाषा तथा साहित्य और इनके शिक्षण से संबद्ध विषयों पर अधिकारी विद्वानों के व्याख्यान आयोजित करता है। इस व्याख्यान-माला के अंतर्गत अगस्त 1973 में डॉ० रमानाथ शर्मा को, जो कि उस समय न्यूयार्क-राचेस्टर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के सहायक प्राध्यापक थे, आमंत्रित किया गया था और जो तीन व्याख्यान उन्होंने दिये थे वे आपके सामने पुस्तक रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

भाषा परिमित साधनों का अपरिमित प्रयोग करती है और व्याकरण को इस सर्जनात्मक पक्ष का उद्घाटन अवश्य करना चाहिए—चाम्स्की के इस प्रजनक रचनांतरण व्याकरण सिद्धांत ने बीसवीं सदी के सातवें दशक में भाषाचिंतन में एक क्रांतिकारी मोड़ ला दिया है। भारत में पाणिनि ने जिनका स्वयं चाम्स्की ने अपने सिद्धांत ग्रंथ 'एस्पेक्टस् आव् थ्योरी आव् सिन्टेक्स' की भूमिका में समादरपूर्वक उल्लेख किया है, अपनी अष्टाध्यायी की रचना इसी प्रविधि से की थी और इसी कारण सीमित संख्या के सूत्र अनंत भाषिक रूपों को सिद्ध करने में समर्थ हुए थे। डॉ० रमानाथ शर्मा ने जिन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों भाषाचिंतनों का गंभीर अध्ययन किया है पाणिनि की अष्टाध्यायी की अधुनातन पश्चिमी भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की है और उन्होंने तर्कयुक्त युक्तियों से यह प्रदर्शित किया है कि पाणिनि के सूत्रों में चाम्स्की के नियमों की अपेक्षा अधिक सशक्तता है और वे कंप्यूटर प्रोग्रामिंग की प्रविधि के अनुसार खरे उतरते हैं।

आशा है कि विद्वत् समाज इन व्याख्यानों से पाणिनि के पुनरध्ययन के लिए प्रेरित होगा और भारतीय भाषाविज्ञान की सच्चे अर्थों में स्थापना करने का प्रयास करेगा।

(गोपाल शर्मा)
निदेशक

# विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| विषय-प्रवेश | ... | 1 |
| 1. अष्टाध्यायी और उसका स्वरूप | ... | 4 |
| 1·1 अधिकार और अनुवृत्ति | ... | 5 |
| 1·2 व्याकरणिक इकाई और प्रक्रिया | ... | 8 |
| 2. जेनेरेटिव प्रक्रिया, क्रमवीक्षण और ट्रैफिक सिद्धांत | ... | 16 |
| 3. अभिसंबंध और अर्थनिर्णय | ... | 40 |
| संदर्भ-ग्रंथ सूची | ... | 49 |

## विषय-प्रवेश

पाणिनि की अष्टाध्यायी को सैद्धांतिक स्तर पर एक प्रजनक (generative) व्याकरण की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'प्रजनक' शब्द से कौन सा अर्थ अभिप्रेत है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में यह शब्द किसी वाक्य की समस्त प्रजनन प्रक्रिया (generative process) और उसके अर्थोद्घाटन (semantic interpretation) के व्यवस्थित स्पष्टीकरण से संबद्ध माना गया है। व्याकरण साधन है और इसका साध्य है वाग्व्यवहार (language use) के उन समस्त आयंगों को उदघाटित करना जिनके माध्यम से मनुष्य का स्व-भाषाज्ञान अनुमानित किया जा सके। इसी ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान (intuition) की संज्ञा भी दी गई है। पाणिनि से लेकर चॉम्स्की (Chomsky) तक वाग्व्यवहार गंभीर चिंतन का विषय रहा है। भाषाचिंतकों ने सदैव ही कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ने की चेष्टा की है; यह दूसरी बात है कि इन प्रश्नों का उत्तर देने के प्रयास में चिंतन की दिशा ही बदल गई हो अथवा मूल प्रश्नों में ही परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होने लगा हो।

यहाँ हम समस्त भाषा चिंतन की परंपरा के विस्तार में न जाकर मूल विषय पर आने की पृष्ठभूमि भर ही प्रस्तुत करना चाहेंगे। चॉम्स्की से पूर्व ब्लूमफील्ड-वादियों (Bloomfieldians) या नव-ब्लूमफील्डवादियों (Neo-Bloomfieldians) ने, जिन्हें सामान्यतः संरचनावादी (structuralist) भी कहा जाता है, भाषा विवरण का जो स्वरूप प्रस्तावित किया उसे प्रजनक वैयाकरण (generative grammarians) उपहासास्पद ही मानते हैं। सच तो यह है कि जिन प्रश्नों का उत्तर आज चॉम्स्की संप्रदाय के भाषाशास्त्री ढूंढ़ या पा रहे हैं उनमें और संरचनावादियों के प्रश्नों में तात्विक अंतर है। इसी तरह का अंतर हम संरचनावादियों और पारम्परिक वैयाकरणों (traditional grammarians) के प्रश्नों में भी पा सकते हैं। उदाहरण के लिए संरचनावादियों ने वाग्व्यवहार की क्षमता को साहचर्य (association) पर आधारित माना और उस पर उत्तेजना (stimulus) और प्रतिक्रिया (response) के दो लेबिल (label) लगाकर भाषिक स्थिति (language situation) को स्पष्ट किया। इन

स्थितियों को ही अपेक्षित वाग्व्यवहार का प्रेरक बताकर उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि बालक जब भाषा सीखता है तो वह भाषिक स्थितियों और उनसे संबद्ध वाग्व्यवहार के रूपों का अनिवार्य संबंध ही हृदयंगम करता है। प्रजनक व्याकरण इस दृष्टि को कदापि स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता यह है कि साहचर्य न तो भाषा सीखने के मूल में अंतर्निहित तथ्यों का स्पष्टीकरण ही करता है और न तो वह वाग्व्यवहार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता सृजनात्मकता (creativity) को ही सैद्धांतिक स्तर पर स्पष्ट कर पाता है। सृजनात्मकता का यह प्रश्न संरचनावादियों के लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता था, पर प्रजनक वैयाकरणों के लिए यही एक मूल प्रश्न बन गया।

इसी प्रकार भाषाशास्त्रियों ने 'कोई भाषा किस प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति करती है' इस प्रश्न पर भी पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। इस संदर्भ में संरचनावादी दृष्टि यह रही कि भाषा को बिलकुल तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टि से परखा जाए। उसकी गठन के बारे में कुछ सामान्य सिद्धांतों और विश्लेषण प्रक्रियाओं का निर्धारण करके उन्हीं के आधार पर भाषिक कार्य-प्रणाली को स्पष्ट किया जाए। प्रजनक वैयाकरणों ने इस सैद्धांतिक सामान्यीकरण को बिलकुल बेतुका माना। तभी तो फ्राइज़ (Fries) का यह दावा कि—उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा के संरचना-संकेतों (structural signals) का अन्वेषण मात्र सामग्री और सामान्यीकृत विश्लेषण प्रक्रिया के आधार पर ही संभव कर लिया है—उन्हें खेल मात्र ही प्रतीत हुआ। प्रजनक वैयाकरण इस तरह के सैद्धांतिक और विश्लेषणात्मक सामान्यीकरण को पूर्वाग्रह युक्त मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार भाषावैज्ञानिक वही ढूँढ़ता है अथवा ढूँढ़ पाने में समर्थ होता है जिसे उसने पहले से ही निश्चित कर लिया है। इसके अलावा इस तरह की पूर्व कल्पित विश्लेषण प्रक्रिया भाषा की कार्यप्रणाली से संबद्ध बहुत से प्रश्नों का या तो उत्तर ही नहीं दे पाती अथवा उत्तर दे पाने का ढोंग ही करती प्रतीत होती है। इसी संदर्भ में प्रजनक वैयाकरणों ने फ्राइज़ के मॉडल (Model) पर यह भी आरोप लगाया कि इस मॉडल से बहुत सी अंग्रेजी संरचनाओं का विवरण भी नहीं दिया जा सकता। पर बात यहीं तक नहीं रुकती। इन वैयाकरणों के आरोप और भी गंभीर हैं। इनका कहना है कि व्याकरणिक कोटियों (grammatical categories) की पहचान और उनका सामान्यीकरण कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों जैसे भाषिक रूपों के विग्रह संबंध (paraphrase relations) या उनमें व्याप्त अनेकार्थता (ambiguity) का समाधान नहीं दे सकते। इसी आधार पर प्रजनक वैयाकरणों ने व्याकरण की सैद्धांतिक धारणा को एक बिलकुल ही नया रूप दे डाला।

आज का भाषावैज्ञानिक व्याकरण व्याकरणिक कोटियों अथवा उनके वर्गी-

कृत संयोजन रूपों का परिगणन नहीं है। इसका रूप और इसकी प्रक्रिया अत्यधिक अमूर्त (abstract) एवं सूक्ष्म है। वस्तुतः वाग्व्यवहार की समस्त प्रक्रिया में वक्ता या श्रोता को भाषा प्रयोग की किन स्थितियों से गुजरना पड़ता है, कौन से निर्णय कब लेने पड़ते हैं—इन सबको व्यवस्थित रूप में प्रतिबिंबित करने वाली व्यवस्था का नाम ही व्याकरण है। प्रजनक व्याकरण एक ऐसे जादुई बक्से (magic box) से उपमित किया जा सकता है जिसका प्रयोगकर्त्ता अथवा निर्णायक भाषावैज्ञानिक स्वयं जादूगर नहीं है। वह एक ऐसा दर्शक है जो काले बक्से की सृष्टि में जादूगर की समस्त चेष्टाओं और क्षमताओं को बाँधने का प्रयास कर रहा हो। कहना अनावश्यक ही होगा कि यह जादुई बक्सा एक ऐसा प्रतीक, मॉडल या कृत्रिम परिकल्पना है जिसका निर्माण विशिष्ट गणितीय तर्क-व्यवस्था के आधार पर हुआ है। इस मॉडल का लक्ष्य हमें यह बताना है कि कौन से भाषिक रूप (यहाँ वाक्य) किसी भाषाविशेष के हैं अथवा नहीं। इन दोनों ही निर्णयों के लिए व्यवस्थित तर्क क्या हैं ? इसी तरह इस व्याकरण का एक विशिष्ट लक्ष्य यह भी है कि विभिन्न वाक्यों में कितने प्रकार के परस्पर संबंध हो सकते हैं और उन संबंधों का निर्धारण और स्पष्टीकरण कैसे होता है। अनेकार्थता और अर्थ निर्धारण की बात भी बहुत हद तक इन्हीं प्रसंगों से जुड़ी हुई है। यह तो हुई वाग्व्यवहार या भाषिक रूपों की बात। अब आइए इस मॉडल की अपनी ख़ुद की व्यवस्था पर। विस्तारभय से मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि यह मॉडल गणितीय तर्क-व्यवस्था का आश्रय इसलिए लेता है ताकि यह सीमित संख्या वाले नियमों के आधार पर ही असीमित भाषिक रूपों अर्थात् वाक्यों को उत्पन्न/व्युत्पन्न अथवा स्पष्ट कर सके। इसी उत्पादक/प्रजननात्मक अथवा व्युत्पादक प्रकार्य (function) को दृष्टि में रखकर चॉम्स्की संप्रदाय के वैयाकरण अपने व्याकरणिक मॉडल को 'जेनरेटिव' कहते हैं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी को 'जेनरेटिव' व्याकरण मानने का आग्रह करते समय मैं यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि यहाँ 'जेनरेटिव' शब्द समकालिक अर्थ में तो लिया गया है पर पाणिनि का मॉडल चॉम्स्की से अधिक सशक्त और साथ ही साथ भिन्न भी है। 'जेनरेटिव' शब्द से हमारा तात्पर्य इतना ही है कि यह व्याकरण (चॉम्स्की के व्याकरण की तरह (?) ही) संस्कृत भाषा के अनंत वाक्यों को सीमित संख्या और व्यवस्थित क्रम वाले कुछ ही नियमों के आधार पर व्युत्पन्न अथवा उत्पन्न कर सकने की क्षमता रखता है। साथ ही साथ यह व्याकरण प्राचीन भारतीय व्याकरणिक विश्लेषण की स्थापनाओं को एक सुनियोजित रूप देने का अत्यधिक सफल प्रयास भी है। भाषिक रूपों के प्रजननवृत्त (derivational history) के आधार पर इस

व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न भाषिक रूपों या वाक्यों के अर्थ का निर्धारण और स्पष्टीकरण भी किया जा सकता है। इस तरह यह व्याकरण प्रजनन और अर्थ निर्धारण/स्पष्टीकरण दोनों में ही सक्षम है।

इस भाषणमाला के द्वारा मैं यह प्रयास करूँगा कि पाणिनि के प्रजनक मॉडल का युक्तिपरक विवरण दूँ। आधुनिक प्रजनक व्याकरण के मनोवैज्ञानिक अथवा मनोभाषावैज्ञानिक (psycholinguistic) दावों के समांतर पाणिनि व्याकरण की क्षमताओं का मूल्यांकन करना अत्यधिक कष्ट साध्य है; साथ ही यह विषयांतर भी है। एतदर्थ मैं अष्टाध्यायी की प्रजनक प्रविधि का संरचनात्मक विवरण ही दूँगा; मनोभाषावैज्ञानिक प्रश्नों को अचर्चित छोड़ना ही उपयुक्त होगा।

## 1
## अष्टाध्यायी और उसका स्वरूप

अष्टाध्यायी, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और इस तरह 32 पादों की अष्टाध्यायी में चार हजार से कुछ अधिक सूत्र रखे गए हैं। विभिन्न अध्यायों या पादों की सूत्र-संख्या बराबर नहीं है और न ही समूची अष्टाध्यायी के सूत्रों को पूर्वापर क्रम की दृष्टि से ही परिगणित किया गया है। किसी सूत्र का संदर्भ देने के लिए अ.ब.स. के क्रम में तीन संख्याओं का प्रयोग किया गया है जहाँ अ अध्याय, ब पाद और स सूत्र संख्या का द्योतन करते हैं। दूसरे शब्दों में सूत्र संख्या 2·3·1 से दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के प्रथम सूत्र का संदर्भ लिया जाएगा।

पाणिनि व्याकरण के सूत्रों और आधुनिक व्याकरणों के नियमों में पर्याप्त अंतर है। आधुनिक व्याकरणों में रूल (rule) की परिकल्पना बहुत हद तक अपने आप में ही पूर्ण अभिप्राय देने वाले, स्वत: स्पष्ट एवं प्रयोग की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र तार्किक वक्तव्यों (logical statements) के रूप में की गई है। ये नियम कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, कार्यों या आंतरिक (intrinsic) अथवा बाह्य (extrinsic) क्रमबद्धता वाले प्रसंगों को छोड़कर प्रयोग अथवा अभिप्राय की दृष्टि से प्राय: आत्मनिर्भर और स्वतंत्र हैं। पाणिनि सूत्रों को यह व्यक्ति-निष्ठता (individuality) और स्वातंत्र्य (independence) सुलभ नहीं। इन सूत्रों को अत्यधिक सारगर्भित, संक्षिप्त और तार्किक वक्तव्यों की संज्ञा तो दी जा सकती है पर इनमें व्यक्तिनिष्ठता और स्वातंत्र्य की अपेक्षा परस्पर अंतरावलंबन (interdependence) का भाव अधिक है। यही कारण है कि एक सूत्र के अर्थ निर्धारण या प्रयोग के लिए हमें अनेक सूत्रों का सहारा लेना पड़ता है।

ऐसा इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि सूत्रों की रचना में पाणिनि

ने बीजगणितीय संक्षिप्ति और गहन सारगर्भिता को अत्यधिक महत्व दिया है। वैसे भी सूत्र रचना में विधेय से क्रिया पद प्रायः विलुप्त ही मिलते हैं और सूत्रों के परिगणन में अक्सर आंतरिक अथवा प्रक्रियापरक (process related) एवं बाह्य अथवा सामान्य क्रमवद्धता का सापेक्षिक महत्व निर्धारित कर पाना कभी-कभी कठिन हो जाता है। पर इससे यह तात्पर्य लेना भ्रामक होगा कि पाणिनि ने संक्षिप्ति और सारगर्भिता की रक्षा के लिए सरलता और अर्थ की स्पष्टता का बलिदान कर दिया। आगे हम कुछ ऐसी व्यवस्थाओं की चर्चा करेंगे जिनके माध्यम से सूत्रों के अर्थ और उनके प्रयोग अधिक आसानी से समझे जा सकें।

## 1·1. अधिकार और अनुवृत्ति

यह बताया ही जा चुका है कि अष्टाध्यायी के सूत्र सामान्यतया परस्पर अंतरावलंबी और प्रसंगाश्रित हैं। प्रसंगाश्रित से तात्पर्य यह है कि विभिन्न सूत्रों को उनके

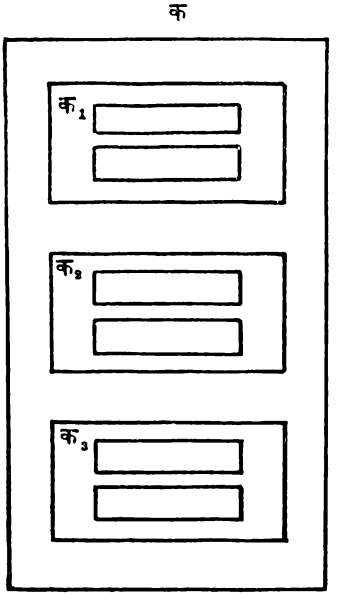


चित्र संख्या 1

प्रकृत स्थानों पर रखने का निर्णय उनके प्रकार्य और विशिष्ट व्याकरणिक प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर ही किया गया है। अतएव विशिष्ट प्रकार्य और प्रक्रिया से संबद्ध सूत्रों

को प्रसंगाश्रित ही मानना उचित होगा। अंतरावलंबन का विशेष संदर्भ पिछले सूत्रों अथवा उनके किन्हीं अंगों का अगले सूत्रों के अर्थ निर्धारण और प्रयोग में आवश्यक मान लिये जाने से है। चूँकि ये दोनों ही शब्द इस व्याकरण की कार्य-प्रक्रिया में एक-दूसरे के पूरक हैं, इन दोनों का संकेत देने के लिए हम एक शब्द—सूत्र-संदर्भ (rule context) का प्रयोग करना चाहेंगे।

सूत्र-संदर्भ को ही दृष्टि पथ में रखते हुए पाणिनि ने अपने सूत्रों को विशिष्ट गुच्छों या वर्गों में रखा है। किसी विशिष्ट गुच्छ का पहला सूत्र उसका अधिकार-सूत्र (governing rule) माना जाता है और उसका अधिकार क्षेत्र (domain) उस गुच्छ के अंतिम सूत्र तक माना जाता है। बड़े गुच्छों या वर्गों में एक या एक से अधिक छोटे गुच्छ भी पाए जाते हैं। इन छोटे गुच्छों के प्रथम सूत्र को भी संबद्ध उपगुच्छों का अधिकार सूत्र माना जा सकता है। यदि **क** एक ऐसा सूत्र-गुच्छ है जिसमें $क_1$, $क_2$ और $क_3$ तीन उपगुच्छ अंतर्भूत हैं, तो ऊपर दिए गए स्पष्टीकरण को पिछले पृष्ठ पर दिए चित्र द्वारा समझा जा सकता है।

अब आइए अनुवृत्ति पर। 'अधिकारोऽनुवर्तते' के आधार पर यह माना जाता है कि अधिकार सूत्र अपने अधिकार क्षेत्र में पड़ने वाले सभी सूत्रों के साथ अनुवृत्त होता है अर्थात् पढ़ा जाता है। तात्पर्य यह है कि एक गुच्छ में जितने सूत्र होते हैं उन सभी सूत्रों के अर्थ-निर्धारण और प्रयोग के समय उस गुच्छ का अधिकार सूत्र उनके साथ जुड़ता है। ऊपर के रेखाचित्र में **क** के अधिकार क्षेत्र में तीन उपगुच्छ ($क_1$, $क_2$, $क_3$) हैं, अतएव इन तीनों उपगुच्छों के प्रत्येक सूत्र के साथ **क** का अधिकार सूत्र अर्थात् उसका प्रथम सूत्र अनुवृत्त होगा। ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि प्रत्येक उपगुच्छ का प्रथम सूत्र अपने उपगुच्छ के लिए अधिकार सूत्र भी माना जा सकता है। इस तरह उनकी अनुवृत्ति भी संबद्ध उपगुच्छ के प्रत्येक सूत्र के साथ आवश्यक मानी जाएगी। इस प्रकार $क_1$, $क_2$, $क_3$ के प्रथम सूत्र क्रमशः $क_1$, $क_2$, $क_3$ के प्रत्येक सूत्र के साथ लगेंगे। परिणाम यह हुआ कि उपगुच्छों के सूत्र अपने उपगुच्छ के अधिकार सूत्र की अनुवृत्ति लेने के साथ ही साथ गुच्छ के अधिकार-सूत्र की भी अनुवृत्ति लेंगे। यदि उपगुच्छों में भी अंतर्गुच्छ हुए, जिनकी संभावना को **चित्र 1** में मात्र संकेतित ही किया गया है, तो वहाँ भी अनुवृत्ति का यही सिद्धांत लागू होगा।

इसी संदर्भ में दो और बातें भी आवश्यक प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि कभी-कभी कुछ ऐसे भी सूत्र मिलते हैं जो किसी बृहत् गुच्छ के अंग तो होते हैं पर उन्हें किसी उपगुच्छ के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार कुछ सूत्र उपगुच्छों में भी मिलते हैं जिन्हें उनसे संबद्ध अंतर्गुच्छों में नहीं रखा जा सकता। ऐसे सूत्र प्रायः गुच्छ

या उपगुच्छ के अधिकार सूत्रों के तुरंत बाद ही पाए जाते हैं। जैसे सूत्र 3·3·1 : **प्रत्ययः** का अधिकार क्षेत्र 5वें अध्याय की समाप्ति तक माना जाता है। इसमें कई उपगुच्छ भी हैं। सूत्र 3·1·2; 3·1·3 और 3·1·4 अर्थात् **परश्च, आद्युदात्तश्च** और **अनुदात्तौ सुप्पितौ** किसी भी उपगुच्छ में अंतर्भुक्त नहीं कहे जा सकते। ऐसे सूत्रों का महत्व अधिकारों के अर्थ निर्णय अथवा उनके प्रकार्य की पूर्णता की दृष्टि से अपरिहार्य है। एतदर्थ इन्हें अधिकार सूत्रों जैसा ही मानना होगा। विवरण की सुविधा के लिए इनसे संबद्ध निम्नलिखित सिद्धांत स्वीकार करना आवश्यक लगता है।

(7·1) किसी बृहत् गुच्छ के ऐसे सूत्र जो उपगुच्छों के अधिकार क्षेत्र में संमिलित नहीं हैं, अपने गुच्छ के अधिकार सूत्र के साथ संयुक्त होकर उस गुच्छ के प्रकार्यात्मक संदर्भ (functional context) का निर्माण करते हैं। यही बात उपगुच्छों के ऐसे सूत्रों, जो अंतर्गुच्छों में सम्मिलित नहीं है, पर भी लागू होती है। इन प्रकार्यात्मक संदर्भों की आवश्यक शर्तों को पूरा किए बिना कोई भी भाषिक रूप (linguistic form) इन अधिकार क्षेत्रों में प्रविष्ट नहीं हो सकता।[1]

सैद्धांतिक दृष्टि से **अधिकार** और **अनुवृत्ति** की धारणा का स्वरूप यही है। ऊपर संकेतित, किंतु अब तक अचर्चित, दूसरी बात का संबंध अनुवृत्ति और अधिकार की धारणा के क्षेत्र विस्तार से है। अक्सर ऐसा भी होता है कि एक उपगुच्छ या अंतर्गुच्छ के सूत्रों में अधिकार सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों या उनके किसी अंश की अनुवृत्ति निचले सूत्रों के साथ होती है। ऐसा पूर्व सूत्रों के अपवाद, विस्तार या अर्थ प्रकाशन के लिए ही किया जाता है। कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अनुवृत्ति की निरंतरता (continuity) खंडित हुई है। तात्पर्य यह है कि किसी सूत्र या सूत्रांश की अनुवृत्ति कुछ सूत्रों में लगती है और फिर कुछ सूत्रों को छोड़कर बाद के सूत्रों में पुनः लग जाती है। इस प्रकार की खंडित अनुवृत्ति को मेंढक की कुदान से उपमित करते हुए **'मण्डूकप्लुति'** की संज्ञा दी गई है।

अधिकार अनुवृत्त होता है और अधिकार सूत्रों की पहचान उन पर अंकित स्वरित चिह्नों से होती है।[2] चूंकि अष्टाध्यायी बहुत समय तक मौखिक परंपरा में ही सुरक्षित रही और बाद में लिपिबद्ध की गई। इसलिए अक्सर यह पता लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है कि स्वरित चिह्न कहाँ अभिप्रेत थे। इसीलिए अधिकारों का निर्णय प्रायः टीकाओं और अन्य परवर्ती व्याकरण ग्रंथों के स्पष्टीकरणों से ही होता है। ठीक यही आधार

---

[1] कोष्ठबद्ध संख्याएँ (पृ. इ.) के क्रम में दी गई हैं जहाँ (पृ.) से पृष्ठ संख्या और (इ.) से विचार की इकाई का संकेत अभिप्रेत है। इस पुस्तक में इसी परंपरा का अनुसरण किया गया है।

[2] देखिए—सूत्र 1·3·11 **स्वरितेनाधिकारः**।

अनुवृत्ति की अंतिम सीमा का निर्णय करने के लिए भी आवश्यक समझा जाता है। संक्षेप में अनुवृत्ति सूत्र प्रस्तुति की ऐसी सशक्त व्यवस्था है जिसके आधार पर एक अधिकार क्षेत्र के सूत्र अनुवृत्त सूत्रों या सूत्रांशों की क्रमबद्ध लड़ियों का निर्माण करते हैं। विशेष बात यह है कि निचले स्तर के सूत्र उच्चस्तरीय सूत्रों की प्रत्याशा (anticipation) करने के लिए बाध्य होते हैं।

अधिकारों की पहचान और अधिकार क्षेत्रों की सीमा का ज्ञान कराने के लिए पाणिनि के कुछ स्पष्ट संकेत भी हैं। ऊपर स्वरितांत की बात कही ही जा चुकी है। कुछ अधिकार क्षेत्रों की सीमा का ज्ञान अध्याय या पाद की समाप्ति से अथवा विचार्य विषय के स्थान पर नए विषय की प्रस्तुति से भी अनुमानित होती है। कभी-कभी कुछ अधिकार सूत्रों के पहले **आ** अथवा **प्राक्** शब्दों का प्रयोग करने के अधिकार क्षेत्रों की सीमा का संकेत किया गया है।[1] वस्तुतः ऐसे स्थल ही अधिक उपयोगी हैं। आगे के विवरणों में हम कुछ महत्वपूर्ण सूत्र-गुच्छों का संदर्भ देंगे, इसलिए उनका परिचय यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। मेरी मान्यता है कि अष्टाध्यायी से भाषिक रूपों की सिद्धि का कार्य लेना तब तक संभव नहीं जब तक उसके संज्ञा और परिभाषा सूत्र दिग्दर्शक का काम न करें। ये सूत्र प्रायः प्रथम अध्याय में ही संगृहीत हैं; यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण संज्ञाएँ और परिभाषाएँ अन्यत्र भी हैं। प्रथम अध्याय को संज्ञाधिकार कहा जाता है पर हम अपने विवरणों में इसे **चालक-गुच्छ** (controlling domain) के नाम से पुकारेंगे। तृतीय से पंचम अध्याय तक प्रत्ययों का अधिकार है जिसमें प्रवेश पाए बिना अष्टाध्यायी से किसी भी भाषिक रूप की सिद्धि हो ही नहीं सकती। इसे हम **अनिवार्यगुच्छ** (obligatory domain) के नाम से पुकारना चाहेंगे। सूत्र-संख्या 6·4·1 से 7वें अध्याय की समाप्ति तक और 8·1·16 से 8·3·55 तक क्रमशः **अंग** और **पद** गुच्छ हैं जिन्हें इनके अधिकार सूत्रों के नाम से ही संबोधित किया जाएगा।

## 1·2. व्याकरणिक इकाई और प्रक्रिया

पाणिनि व्याकरण का लक्ष्य संस्कृत (वैदिक तथा लौकिक दोनों) के शब्दों का व्यवस्थित विवरण देना है। यहाँ शब्द से पदग्रामिक स्तर की उच्चतम इकाई का भ्रम नहीं होना चाहिए। शब्द से तात्पर्य पदों से है जिनके अतिरिक्त वाग्व्यवहार में किसी अन्य भाषिक (सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक) रूप का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

---

[1] उदाहरण के लिए देखिए—1·4·1 **आ कडारादेका संज्ञा** या 4·4·1 **प्राग्वहतेष्ठ-क्,** इत्यादि।

श्रुति परंपरा से प्राप्त वाक्य 'अपदं न प्रयुञ्जीत' से भी इस बात की पुष्टि होती है। 'अपद' से यहाँ मुख्यतः अपरिनिष्ठित का ही अर्थ लिया जाता है पर 'सुबन्ततिङन्त विहीनता' के तात्पर्य की पुष्टि में **'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या**···' इत्यादि वक्तव्य भी मिलते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पद को संस्कृत संरचना की उच्चतम इकाई मानकर बहुत से भाषा-चिंतकों ने पाणिनि व्याकरण पर यह आरोप लगाया है कि इस व्याकरण का उपजीव्य मात्र पदग्रामिकी (morphology) ही है। वस्तुतः ऐसी मान्यताएँ भ्रामक और निराधार हैं। पदग्रामिक पद वाग्व्यवहार की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रखता। वाग्व्यवहार में प्रयुक्त पद वाक्य स्तरीय इकाई हैं। इसका इसी तरह की अन्य इकाइयों के साथ संबंध निर्धारण किए बिना वाक्य रचना और अर्थ प्रतीति संभव नहीं। जॉर्ज कार्दोना (George Cardona) का यह कहना उचित ही है कि 'पाणिनीय योजना के अंतर्गत पदों की उचित सिद्धि के पीछे वाक्यस्तरीय अभिसंबंधों की एक पूर्ण व्यवस्था काम करती है।[1] आगे हम पदग्रामिक और वाक्यस्तरीय दोनों ही पदों की विस्तृत चर्चा करेंगे।

पाणिनीय प्रजनक प्रक्रिया (generative process) विवक्षा (intent) से आरंभ होती है। वाग्व्यवहार के संदर्भ में यह वक्ता की इच्छा से संबद्ध मानी जा सकती है। व्याकरणिक मॉडल के परिचालन (manipulation) अथवा उसकी कार्य-प्रक्रिया (functioning) की पृष्ठभूमि में यह भाषा-चिंतक के इस उद्देश्य का संकेत देती है कि वह व्याकरण से कौन सा काम लेना चाहता है। जिस तरह कम्प्यूटर (computer) की कार्यक्षमता का अनुमान उसकी स्मृति (memory) में सुरक्षित सामग्री (data) और प्रोग्रैमिंग (programming) तथा तत्संबद्ध व्यवस्थित निर्देशों से ही संभव है, ठीक उसी तरह व्याकरणिक मॉडलों की भी कार्य प्रक्रिया अनुमानित की जा सकती है। पाणिनीय मॉडल को डेविड एलिस रॉजर्स (David Ellis Rogers : 1969), वान नूटन (Van Nooten : 1970) और मैंने स्वयं भी कम्प्यूटर प्रोग्रैमिंग की दृष्टि से परखा है। परिणाम बहुत ही आकर्षक रहे हैं और आगे हम इस व्याकरण की कार्य-प्रक्रिया का जो विवरण देंगे उसमें प्रोग्रैमिंग की भाषा तथा प्रतीकात्मक तर्क भाषा (symbolic logic) का ही अधिकाधिक आधार लिया जाएगा।

इस व्याकरण की कार्यप्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए उचित होगा कि

---

[1] '. . . the correct derivation of words according to Pāṇini's scheme involves a complete system of syntactic relationships,—Cardona (1967 A, p. 35).

हम इसे एक मशीन के रूप में स्वीकार करें। इसका एक अंग विवक्षा का होगा और दूसरा इसकी स्मृति में सुरक्षित व्याकरण का। व्याकरण को परिचालित करने के पहले उससे संबद्ध कोश (lexicon) की आवश्यकता होगी और तब व्याकरण के नियमों का परिगणन होगा। अंत में इस मशीन के स्वत: परिचालन (auto-manipulation) के लिए आवश्यक निर्देश, व्यवस्थाएँ और नियम संग्रहीत होंगे। नीचे के रेखाचित्र से इस मॉडल को समझने में सुविधा होगी :

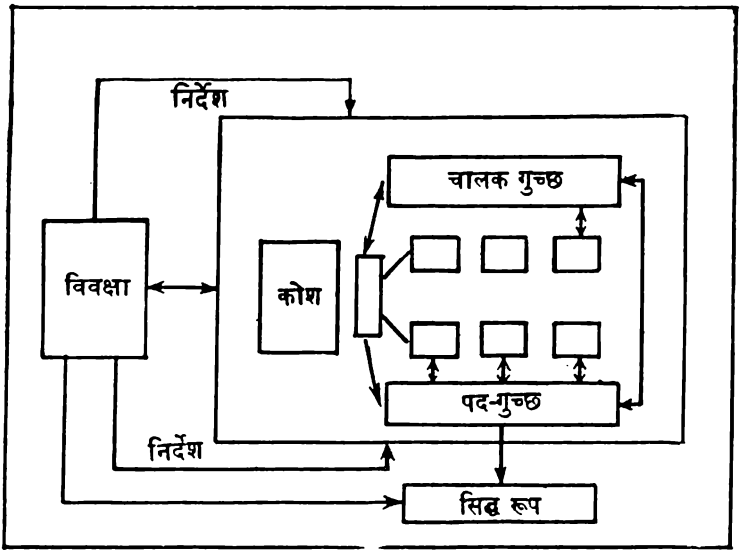


**चित्रसंख्या 2**

पाणिनि व्याकरण में दो प्रकार के कोशों का प्रभूत उपयोग लक्षित होता है : (1) **धातु पाठ** और (2) **पद पाठ**। धातु पाठ में लगभग दो हजार धातुएँ प्रक्रियाओं को लक्ष्य में रखकर दस वर्गों में विभक्त की हुई हैं। इन वर्गों का नामकरण वर्ग की प्रथम धातु के साथ **आदि** शब्द को जोड़कर किया गया है। इसी प्रकार पद पाठ में भी शब्दों का संग्रह और वर्गीकृत संकलन है। इसमें कुछ विशिष्ट वर्गों का ही परिगणन किया गया है और स्पष्टत. ही यह धातु पाठ की तरह विस्तृत नहीं। इन वर्गों का संदर्भ व्याकरण में सर्वत्र ही मिलता है और इनका संकेत धातुओं की तरह ही वर्ग के प्रथम शब्द के साथ **आदि** जोड़कर दिया जाता है।

इस व्याकरण की दृष्टि में सिद्ध रूपों को पद माना गया है। इन्हें सामान्य

भाषण में शब्द कहा जा सकता है, पर तकनीकी (technical) दृष्टि से ये वे भाषिक रूप हैं जिनके अंत में **सुप्** और **तिङ्** विभक्तियों का उपयोग हुआ हो।[1] विवक्षा की अमूर्त्त (abstract) इकाइयों के समांतर शाब्दिक इकाइयाँ कोश से ही उपलब्ध हो सकती हैं। इनका चयन इस दृष्टि से किया जाता है कि ये विवक्षा का केन्द्रीय भार अभिव्यक्त कराने में सक्षम हों। इन शाब्दिक इकाइयों को ही व्याकरण का निवेश (input) बनाया जाता है। चूँकि व्याकरण के लिए ये शाब्दिक इकाइयाँ प्रथम निवेश हैं और साथ ही चालक निवेश के लिए भी यही इकाइयाँ प्रथम निवेश बनती हैं, हम इन्हें पाणिनि की प्रजनक प्रविधि के स्पष्टीकरण में **मूल-निवेश** (base-input) के नाम से पुकारना चाहेंगे।

यह तो स्पष्ट ही हो चुका होगा कि मूल-निवेश दो प्रकार के होते हैं : **(1) प्रातिपदिक** और **(2) धातु**। पाणिनि ने प्रातिपदिक की ये परिभाषाएँ दी हैं :

(11·2) धातु तथा प्रत्यय वर्जित अर्थपूर्ण इकाइयों को प्रातिपदिक कहते हैं।[2]

(11·3) ···कृदंत, तद्धितांत इकाइयाँ तथा समास को भी प्रातिपदिक कहते हैं।[3]

पाणिनि ने धातु की कोई परिभाषा नहीं दी है। वे इतना ही कहते हैं कि **भू,** इत्यादि अर्थात् **भ्वादि** इत्यादि विभिन्न गणों में पठित या परिगणित (cited or enumerated) इकाइयाँ ही धातु हैं।[4] इसी परिभाषा के अंतर्गत वे सन् इत्यादि प्रत्ययों से अंत होने वाले शब्द रूपों को धातु के अंतर्गत ही रखते हैं।[5]

अपने विवरणों में संस्कृत भाषा के समस्त धातु और प्रातिपदिकों को मैं मूल निवेश मानकर चलूँगा। मूल निवेश जब चालक गुच्छ में प्रविष्ट होकर किसी संज्ञा द्वारा पहचान लिया जाता है तभी अष्टाध्यायी का व्याकरण तंत्र होता है। इस सक्रियता के बाद के सभी कार्य विभिन्न व्यवस्थाओं और निर्देशों के अंतर्गत प्रायः अपने आप ही पूर्ण होते हैं। संक्षेप में इस व्याकरण तंत्र की सक्रियता के मूल में निम्नलिखित सिद्धांत काम करता है :

(11·4) विवक्षा के अमूर्त्त खंडों का केंद्रीय अर्थ दे सकने वाली शाब्दिक इकाइयों का शब्दकोश से चयन और तदुपरांत चालक गुच्छ में मूलनिवेश के रूप में

---

1 **सुप्तिङन्तं पदम्** 1·4·14।
2 **अर्थवद धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** 1·2·45।
3 **कृत्तद्धित समासाश्च** 1·2·46।
4 **भूवादयो धातवः** 1·3·1।
5 **सनाद्यन्ता धातवः** 3·1·32।

उनका प्रवेश। जब चालक गुच्छ के संबद्ध सूत्रों द्वारा इन मूल निवेशों की पहचान हो जाती है तब व्याकरण तंत्र सक्रियता प्राप्त करता है और तदुपरांत विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा लगभग स्वतः चालित ढंग से भाषीय रूपों की सिद्धि होती है।

ऊपर हम यह भी बता चुके हैं कि सिद्ध भाषिक रूप केवल दो प्रकार के ही होते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मूल शाब्दिक इकाइयाँ भी दो ही हैं। इन्हें ही उपरोक्त स्थापना के अंतर्गत मूल निवेश बनाकर विभिन्न प्रक्रिया मार्गों से गुज़ारा जाता है और तभी दो कोटियों में विभक्त अनंत पदों की सिद्धि संभव होती है। धातु या प्रातिपदिक से पद तक की यात्रा विभिन्न स्तरों (stages or levels) में विभक्त मानी जा सकती है। इन स्तरों की पहचान उनमें होने वाले विशिष्ट कार्यों द्वारा होती है। नीचे हम पाणिनि व्याकरण द्वारा सिद्ध पदों का उनके मुख्य प्रकारों, घटकों और प्रक्रियाओं की दृष्टि से आकलन करेंगे। मूल निवेशों का विस्तार करने के लिए प्रत्यय मुख्य घटक हैं; साथ ही मूल निवेश की चालक गुच्छ में किसी संज्ञा द्वारा पहचान हो जाने पर सबसे पहले ये घटक ही मूल निवेशों के बाद जुड़ते हैं और इन्हीं के आधार पर विभिन्न परिभाषाओं के निर्देश में विभिन्न प्रक्रिया कार्य संपन्न होते हैं। एतदर्थ नीचे के चित्र में व्याकरण सम्मत पद प्रकारों को इन घटकों के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया गया है। यदि इस चित्र को दाएँ से बाएँ की ओर पढ़ा जाए और मँझले कोष्ठ में आबद्ध रूपों में से एक बार केवल एक ही को चुना जाए तो यह चित्र अष्टाध्यायी के सात प्रमुख पद प्रकारों को अकेले ही व्यक्त कर सकेगा। छोटे कोष्ठ में आबद्ध रूप वैकल्पिक (optional) हैं :

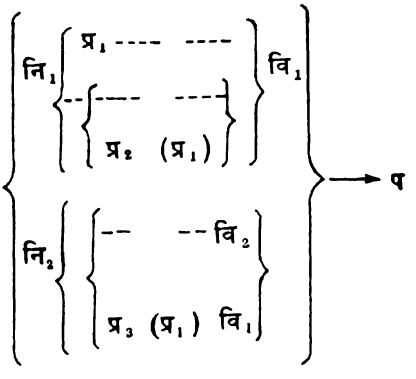


चित्र संख्या : 3

यदि ऊपर के चित्र में **प = पद, नि$_1$ = निवेश$_1$** अर्थात् **प्रातिपदिक, निवेश$_2$** अर्थात् **धातु, प्र$_1$ = स्त्री प्रत्यय, प्र$_2$ = तद्धित प्रत्यय, प्र$_3$ = कृत् प्रत्यय** मान लिया जाए और इसी तरह **वि$_1$ = सुप्** और **वि$_2$ = तिङ्** मान लिया जाए तो पद संभावना के सात अंतर्भुक्त नियम निम्नलिखित होंगे :

(13·5) $\text{नि}_1 + \text{वि}_1$

(13·6) $\text{नि}_1 + \text{प्र}_1 + \text{वि}_1$

(13·7) $\text{नि}_1 + \text{प्र}_2 + \text{वि}_1$

(13·8) $\text{नि}_1 + \text{प्र}_2 + \text{प्र}_1 + \text{वि}_1$

(13·9) $\text{नि}_2 + \text{वि}_2$

(13·10) $\text{नि}_2 + \text{प्र}_3 + \text{वि}_1$

(13·11) $\text{नि}_2 + \text{प्र}_3 + \text{प्र}_1 + \text{वि}_1$

पाणिनि की प्रजनक प्रविधि का विवरण हम इन पदों का व्युत्पत्ति वृत्त देकर ही स्पष्ट करना चाहेंगे। इन साधारण पदों की सिद्धि के बाद यह स्पष्ट किया जाएगा कि वाक्य स्तरीय जटिल भाषिक रूपों की सिद्धि और उनका अर्थ निर्धारण कैसे होता है। सबसे पहले हम ऊपर बताए पद प्रकारों में प्रथम का व्युत्पत्ति वृत्त (derivation history) देंगे; उदाहरण के लिए हमने **कुमारः** को लिया है :

(13·12) $\text{नि}_1 + \text{वि}_1 =$ कुमार :[1]

(अ) कुमार →1·2·45 [चा]

4·1·1 [अ]

4·1·2 ÷ 1·4·22 [चा]

1·4·100 − 3

2·3·46

⇒कुमार + सु

---

1 ऊपर के व्युत्पत्ति वृत्त में प्रयुक्त संकेतों का तात्पर्य निम्नलिखित है :
→वाण के पूर्व के रूपों पर इसके बाद संकेतित सूत्र लगेंगे।
⇒सूत्र लगने के बाद उस स्तर पर सिद्ध रूप।
#पश्च क्रमवीक्षण
[ ] वृहत् सूत्र गुच्छों का संकेतक; [चा] चालक; [अ] अनिवार्य; [अं] अंग और [प] पद।

(ब) कुमार + सु→

1·3·2, 1·3·9

1·4·13 [चा]

6·4·1 [अं]

⇒ कुमार + स्

(स) कुमार + स्→

1·4·14 [चा]

8·1·16 [प]

8·2·66

⇒ कुमार + रु

(द) कुमार + रु→

1·3·2, 1·3·9

8·3·15 [प] #

1·4·100 [चा] · · ·

⇒ कुमारः

इस व्युत्पत्ति-वृत्त को संस्कृत के पारंपरिक व्याकरण से ही लिया गया है। सरसरी दृष्टि से देखने पर यह बहुत ही सरल प्रतीत होता है पर सैद्धांतिक दृष्टि से देखने पर इसकी जटिलता समक्ष में आ जाएगी। सूत्रों का प्रयोग और व्युत्पत्ति के चार स्तरों को देखकर यह अनुमान लगाना आसान ही है कि सूत्र-गुच्छों का क्रम **चालक, अनिवार्य, अंग** और **पद** है। पर इस क्रम में चालक गुच्छ का सर्वेक्षण बार-बार आता है। अष्टाध्यायी के मॉडल को मैंने एक मशीन से उपमित किया है। अब यदि इस मशीन को अथवा किसी कम्प्यूटर (computer) को ही यह आदेश दिया जाए कि वह **कुमारः पचति** की सिद्धि उसके व्युत्पत्ति-वृत्त (derivational history) के साथ प्रस्तुत करे तो कम्प्यूटर की स्मृति (memory) में सुरक्षित अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ मात्र से ही काम नहीं निकल जाएगा। वस्तुतः जब तक उसकी स्मृति में निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर भी संगृहीत न किया जाए तब तक बात नहीं बनेगी :—

(14·13) इस व्याकरण का प्रजनक तंत्र कैसे सक्रियता प्राप्त करता है ?

(14·14) विभिन्न सूत्र-गुच्छों में प्रविष्ट होने अथवा उनसे बाहर निकलने के संकेत कब, कैसे और कहाँ से मिलते हैं ?

(14·15) सिद्ध रूपों तक पहुँचने की प्रक्रिया में किन-किन विशिष्ट मार्गों का

वैकल्पिक अथवा अनिवार्य अनुसरण करना पड़ता है और क्यों ? यदि इन मार्गों का अनुसरण न किया गया तो किस तरह की विसंगतियाँ उत्पन्न होंगी ?

(15·16) यदि अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र से अंतिम सूत्र तक प्रत्येक सूत्र की जाँच यह जानने के लिए की जाए कि किस निवेश पर कौन से सूत्र लगेंगे, तो कम्प्यूटर का बहुत अधिक समय व्यर्थ ही चला जाएगा। वैसे भी यह प्रक्रिया बेहद ऊब वाली सिद्ध होगी। इस दृष्टि से तीसरा प्रश्न यह उठता है कि ऐसी कौन-सी क्रमवीक्षण (scanning) व्यवस्था है जिसका अनुसरण करने से अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों की जाँच शीघ्रता से करके अपेक्षित सूत्र-गुच्छों और खासतौर पर सूत्रों को तुरंत निकाला जा सके।

(15·17) यह कैसे मालूम होगा कि कौन से सूत्र किस निवेश पर कब लागू होंगे ?

(15·18) सिद्ध रूपों के अर्थ निर्णय की व्यवस्था कैसे होती है ?

अष्टाध्यायी की सिद्धियों के संदर्भ में इस तरह के प्रश्नों का गंभीर अध्ययन अभी तक नहीं किया जा सका है। यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सभी आवश्यक सूचनाएँ पारंपरिक टीकाओं और भाष्यों में उपलब्ध हैं। सच तो यह है कि आधुनिक सैद्धांतिक भाषावैज्ञानिक भी इसी तरह के कई प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ रहे हैं। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर पाने के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा :

(15·19) अष्टाध्यायी के रचना-तंत्र तथा उसके आधारभूत सिद्धांतों का व्यवस्थित विवरण जो विशेष रूप से सूत्र-रचना, वर्गीकरण, विश्लेषण, क्रम और प्रयोग को दृष्टिपथ में रखकर तैयार किया गया हो।

(15·20) अष्टाध्यायी की समस्त प्रतिनिधि सिद्धियों को दृष्टिपथ में रखकर क्रमवीक्षण (scanning) और ट्रैफिक (traffic) के सिद्धांतों का नियमन और प्रस्तुति तदनंतर अर्थ निर्णय की प्रक्रिया का निर्धारण।

धर्मकीर्ति ने अपने **रूपावतार:** में जिस प्रक्रिया परंपरा को स्थापित किया, उसे रामचन्द्र की **प्रक्रिया-कौमुदी** ने विशिष्ट रूप दे डाला। भट्टोजी दीक्षित और वरदराज ने भी यद्यपि ऊपर के प्रश्नों को दृष्टिपथ में नहीं रखा पर प्रकारांतर से उन्होंने इनमें से अनेक का उत्तर दे डाला। प्रस्तुत विवेचन से मैं किसी चौंकाने वाली उपलब्धि का दावा नहीं करना चाहता। मेरा मंतव्य मात्र इतना ही है कि पाणिनि को अष्टाध्यायी के माध्यम से समझने के प्रयास को प्राथमिकता मिलनी चाहिए, उलझाव आने पर तो समस्त व्याकरणिक परंपरा दिशा निर्देश के लिए है ही। पाणिनि अप्रतिम मेधा वाले

भाषावैज्ञानिक पहले थे और वैयाकरण बाद में। आधुनिक भाषा चिंतन में ऑटोमेशन (automation) और गणितीय मॉडलों के विकास की ओर व्याप्त रुझान पाणिनि के भाषावैज्ञानिक रूप की ओर हमें नए सिरे से पुनः आकृष्ट करता है। क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आधुनिक भाषाचिंतक अपने कई ज्वलंत प्रश्नों का समाधान या समाधान की दिशा का अपेक्षित संकेत पाणिनि में निश्चित ही पा सकते हैं।

## 2

## जेनरेटिव प्रक्रिया, क्रमवीक्षण और ट्रैफिक सिद्धांत

(13·12) अर्थात् **कुमारः** का व्युत्पत्ति-वृत्त सामने रखकर अब हम (14·13) से (15·18) तक के प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करेंगे। (11·3) के अंतर्गत हम पहले प्रश्न अर्थात् जेनरेटिव तंत्र की सक्रियता कैसे होती है—इसका सैद्धांतिक स्पष्टीकरण दे चुके हैं। अब आइए इसे **कुमारः** पर इसे चरितार्थ करके देखें। विवक्षा की अमूर्त्त इकाई मान लीजिए कि **अ** थीं जो प्रकृत रूप में एक अनिश्चित (variable) इकाई ही मानी जाएगी। विवक्षा के मूल अर्थ के समानांतर शब्दकोश से **कुमार** का चयन किया गया। अब यह इकाई अर्थात् **अ** स्थिर मूल्य (constant) की हो जाएगी। इसे जब चालक गुच्छ को सौंपा गया तो इसकी पहचान (11·2) अर्थात् 1·4·14 : **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से **प्रातिपदिक** के रूप में हुई। प्रक्रिया के सामान्य सिद्धांत की दृष्टि से निम्नलिखित स्थापनाएँ की जा सकती हैं :

(16·21) विवक्षा की स्पष्टता के बिना इस व्याकरणिक मॉडल का उपयोग नहीं हो सकता।

(16·22) विवक्षा की अमूर्त्त इकाइयों के समानांतर मूल शाब्दिक इकाई (यों) का निर्णय इसके बाद आवश्यक हो जाता है।

(16·23) मूल शाब्दिक इकाई की पहचान के लिए उसका चालक अधिगुच्छ में प्रवेश। पहचान के बाद ही मूल शाब्दिक इकाई मूल निवेश की संज्ञा प्राप्त करती है और इत्संज्ञा/लोप के बाद उसे तुरंत चालक अधिगुच्छ से निर्गति मिल जाती है।

पहले हम बता आए हैं कि प्रत्ययों के अधिकार अर्थात् अनिवार्य गुच्छ में प्रत्येक मूल निवेश का जाना आवश्यक है। यह भी कहा जा चुका है कि यह बहुत लंबा अधिकार

है और इसमें अनेक उपगुच्छ और अंतर्गुच्छ हैं। प्रश्न यह उठता है कि जब **कुमार** की प्रातिपदिक संज्ञा हो गई और उसे चालक गुच्छ से निर्गति मिल गई तो इतने वृहत् अनिवार्य गुच्छ में उसे कहाँ ले जाया जाए। यदि आदि से अंत तक इस गुच्छ का क्रमवीक्षण करना पड़े तो अनुपयुक्त ही है। इस समस्या का हल भी चालक गुच्छ के पास ही है। वस्तुतः इस गुच्छ द्वारा विवक्षा की मूल इकाइयों के समांतर प्राप्त शाब्दिक इकाइयों की संज्ञाओं द्वारा पहचान का रहस्य भी यही है। ये संज्ञाएँ ही हमें यह निर्देश देती हैं कि उनके द्वारा पहचाने गए मूल निवेशों के संदर्भ में कहाँ कौन से सूत्र लगेंगे। आगे के विवरणों की सुविधा के लिए हम इस प्रक्रिया की निम्नलिखित सैद्धांतिक स्थापना देना चाहेंगे :

(17·24) चालक गुच्छ की संज्ञाओं द्वारा पहचाने गए मूल निवेशों को इत्संज्ञा/लोप के बाद सीधे अनिवार्य गुच्छ को सौंप दिया जाना चाहिए। तत्पश्चात् अनिवार्य गुच्छ का क्रमवीक्षण (उपगुच्छों के प्रकार्यात्मक संदर्भ स्तर पर) इस दृष्टि से करना चाहिए कि किस उपगुच्छ के अधिकार सूत्र में मूल निवेश का पहचान करने वाली संज्ञा का प्रयोग हुआ है। जिस उपगुच्छ के अधिकार सूत्र में इस संज्ञा का उल्लेख हुआ हो उसी उपगुच्छ में सूत्र प्रयोग की संभावना माननी चाहिए।

**कुमारः** के व्युत्पत्तिवृत्त में आगे सूत्र 4·1·1-2 अर्थात् **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** और **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्** इत्यादि का प्रयोग बताया गया है। पिछली स्थापना की उपयोगिता इसी बात में है कि वह **कुमार** मूल निवेश को उसकी प्रातिपदिक संज्ञा के आधार पर अनिवार्य गुच्छ के ऐसे उपगुच्छ में भेज दे जिसके अधिकार सूत्र में **प्रातिपदिक** शब्द का उल्लेख हुआ हो। इस स्थापना द्वारा यह भी स्पष्ट हो गया कि ऐसे ही उपगुच्छ में सूत्रों के लगने की संभावना भी होगी। पर अधिकार सूत्र में संज्ञा के उल्लेख मात्र से ही सूत्र नहीं लग जाते, इसलिए उपगुच्छों में प्रवश संबंधी निम्नलिखित स्थापना (जो पिछली स्थापना से संयुक्त ही मानी जानी चाहिए) उपयुक्त लगती है :—

(17·25) निवेश रूप किसी सूत्र गुच्छ (अनिवार्य गुच्छ और चालक गुच्छ को छोड़कर) अथवा उपगुच्छ में तब तक प्रवेश नहीं पा सकते जब तक विचार्य गुच्छ के सूत्र संदर्भ में (1) निवेश का पहचान करने वाली संज्ञा का उल्लेख न हुआ हो और (2) सूत्र-संदर्भ की अतिरिक्त शर्तों का पालन न हुआ हो।

हम ऊपर बता आए हैं कि **कुमार** की चालक गुच्छ द्वारा पहचान **प्रातिपदिक** के रूप में हुई। पूर्वोक्त स्थापनाओं की दृष्टि से जब इसे मूल निवेश मानकर अनिवार्य गुच्छ में भेजा गया तो हमें 4·1·1 **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** के उपगुच्छ में सूत्र-प्रयोग की संभावना दिखी। एसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि 4·1·1 में **कुमार** का पहचान करने वाली

संज्ञा **प्रातिपदिक** का उल्लेख हुआ है। सूत्र 4·1·1-2 का प्रयोग एक अन्य समस्या भी खड़ा करता है। दोनों सूत्रों का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार है :

(18·26) प्रातिपदिक तथा ङ्यन्त (ङीप्, ङीष् और ङीन्), आवंत (टाप्, चाप्, डाप्) स्त्री प्रत्यांत रूपों के बाद सुप् प्रत्यय होते हैं।

**कुमार** प्रातिपदिक है, इसलिए इस उपगुच्छ के प्रकार्यात्मक संदर्भ के अनुकूल भी है। प्रश्न यह उठता है कि सुप् तो 21 हैं और इनमें से किसी एक का चयन क्यों, कैसे और किस आधार पर किया जाए। इस उपगुच्छ में ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं जिससे इस समस्या का समाधान मिल सके। इसी तरह के अनेक दूसरे प्रसंग भी अष्टाध्यायी में मिलते हैं। मान लीजिए एक वाक्य है—कुमारः पठति। अब यदि **पठति** की सिद्धि के लिए पिछली स्थापनाओं का अनुसरण करते हुए हम **पठ्** को धातु पाठ से लें और चालक गुच्छ के —1·3·1 : **भूवादयो धातवः**—सूत्र से इसकी धातुसंज्ञा करा कर उसे अनिवार्य गुच्छ को सौंप दें तो **पठ्** को 3·1·91 : **धातोः** के उपगुच्छ में प्रवेश मिल जाएगा। अब यहाँ क्रमशः 3·2·123 : **वर्तमाने लट्**, 3·4·69 : **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**, 3·4·77 : **लस्य** तथा 3·4·78 : तिप् तस् झि···इत्यादि सूत्रों के प्रयोग से **पठ्** के बाद लट् और उसके स्थान पर **तिङ** का आदेश होगा। तिङ् 18 हैं और इस तरह यहाँ भी सुप् चयन जैसी ही समस्या खड़ी होती है। अर्थात् 18 **तिङों** में से किसी एक का चयन क्यों और कैसे संभव होगा ?

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में सूत्र 3·4·67 : **कर्तरि कृत्** के प्रपंच में एक ऐसी महत्वपूर्ण बात कही है जिससे ऊपर बताई गई समस्या का हल ढूँढ़ने में मदद मिल सकती है। पतञ्जलि की मान्यता है कि यदि दो सूत्र व्याकरण में भिन्न स्थानों पर परिगणित हों तो इतने से ही उन्हें अलग नहीं मान लिया जा सकता। वस्तुतः भिन्न-स्थानी होते हुए भी संबद्ध सूत्रों का संदर्भ एक ही होता है।[1] यह वक्तव्य इस बात को दृष्टि में रखकर दिया गया है कि रूपों की सिद्धि संज्ञा और परिभाषा सूत्रों के लगने मात्र से ही नहीं हो जाती। सिद्धि के लिए उनका विभिन्न प्रक्रिया रूपों से संयुक्त किया जाना आवश्यक है। यह बात आधुनिक कम्प्यूटर संबंधी एक बहुचर्चित व्यवस्था अर्थात् सूचना पुनः प्रापण (information retrieval) के अत्यधिक निकट है।

सूचना पुनः प्रापण के सिद्धांत को साधारण शब्दों में स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि कार्य प्रक्रिया संबंधी सभी सूचनाएँ एक स्थल पर न दी जा कर

---

[1] देखिए—सूत्र 3·4·67 पर महाभाष्य : **न विदेशस्थमिति कृत्वतो नाना वाक्यं भवति। विदेशस्थमपि सदेकवाक्यं भवति···।** और भी देखिए जॉर्ज कार्दोना (1967)।

विभिन्न स्थलों पर रख दी गई हों और यदि उनमें से किसी एक या दो का उपयोग एक विशेष संदर्भ में अपेक्षित हो तो उसकी प्राप्ति आवश्यकता वाले स्थान पर कैसे संभव होगी। यदि आप किसी स्वतः चालित मशीन से कार्य ले रहे हैं तो मशीन को यह पहले ही बताना होगा कि किन परिस्थितियों में कब, किस तरह की सूचना किस स्थान से कैसे प्राप्त की जा सकेगी।

ऊपर निर्दिष्ट **सुप्** तथा **तिङ्** के चयन की समस्या का हल निकालने के लिए पारंपरिक वैयाकरण **परस्मैपद-आत्मनेपद; कारक** तथा **विभक्ति** संबंधी सूत्रों का आधार ग्रहण करते हैं जो उचित ही है। **परस्मैपद-आत्मनेपद** एवं **कारक** संबंधी सूत्र चालक गुच्छ में ही हैं; विभक्ति सूत्र 2सरे अध्याय में 3सरे पाद में। अब प्रश्न यह उठता है कि **कुमार** के संबंध में **सुप्** चयन की समस्या उठी 4·1·1-2 पर और **पठ्** के संबंध में **तिङ्** चयन की समस्या 3·4·77-78 पर सामने आई। इन स्थलों पर **आत्मनेपद-परस्मैपद** एवं **कारक-विभक्ति** सूत्रों द्वारा दी गई सूचनाएँ किस प्रकार उपलब्ध हो सकेंगी। स्पष्टतः यह समस्या सूचना पुनः प्रापण की समस्या से भिन्न नहीं लगती। यदि इसे मान लिया जाए तो फिर प्रश्न उठता है कि सूचना प्रापण तंत्र को कैसे सक्रियता प्राप्त होती है अथवा किन परिस्थितियों में कैसे यह तंत्र कार्यरत होता है।

पाणिनि व्याकरण की कार्य प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाले सिद्धांतों के समर्थन में प्रायः अंतः साक्ष्य का हवाला ही दिया जाता है। **सुप्-तिङ्** के चयन पर सूचना प्रापण सिद्धांतों की प्रेरणा से जो सुझाव यहाँ दिए जा रहे हैं वे स्पष्टतः अंतः साक्ष्य पर आधारित नहीं। पर इतना अवश्य है कि इनका महत्व पाणिनि व्याकरण के लिए अपरिहार्य है, अतएव इन्हें मान लेने में कोई हानि नहीं। मेरी मान्यता है कि संज्ञा शब्द और उनके प्रतिनिधित्व करने वाले प्राविधिक रूप ही विभिन्न स्थलों पर दी गई सूचनाओं को आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध कराते हैं। इस उपलब्धि की प्रक्रिया को समझाने के लिए हम क्रमवीक्षण संबंधी एक अन्य स्थापना पर विचार करेंगे।

(19·27) यदि क्रमवीक्षण की प्रक्रिया में कोई ऐसा सूत्र मिले जिसमें किसी पारिभाषिक शब्द अथवा उसके प्रतिनिधि रूप का उल्लेख हो तो उस सूत्र को लागू करने से पहले पारिभाषिक शब्द अथवा प्रतिनिधि रूप को समझ लेना आवश्यक होगा। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु हमें ऐसी प्रक्रिया का आश्रय लेना होगा जिसके द्वारा विचार्य पारिभाषिक शब्द अथवा उसके प्रतिनिधि रूप का स्पष्टीकरण करने वाले समस्त प्रसंगों का संग्रह एक स्थान पर सुकर हो जाए। प्रसंग संग्रह की इस प्रक्रिया को प्रसंगानुक्रमणी (referential index) के नाम से पुकारा जा सकता है। इसकी आवश्यकता हमें तब पड़ती है जब किसी सूत्र का प्रयोग करते समय उसमें उल्लिखित पारिभाषिक

शब्द या उनके प्रतिनिधि रूपों संबंधी सूचना आवश्यक हो जाए।

हमारे ऊपर के उदाहरणों में **सुप्**, **ल** और **तिङ्** ऐसे ही रूप हैं जो पारिभाषिक शब्दों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऊपर दी गई स्थापना के आधार पर **सुप्** तथा **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी तैयार करना अनिवार्य हो जाता है। प्रसंगानुक्रमणियों की रचना के लिए हमें 4·1·1; 3·4·77–78 के पूर्व के सूत्रगुच्छों का क्रमवीक्षण करना होगा। यहाँ यह बताना आवश्यक हो जाता है कि यह क्रमवीक्षण 4·1·1 या 3·4·77–78 से आरंभ होकर क्रमशः चालक गुच्छ तक पहुँचे अथवा जैसे ही इस तरह के क्रमवीक्षण की आवश्यकता उत्पन्न हो वैसे ही चालक गुच्छ से आरंभ कर 4·1·1 या 3·4·77–78 तक क्रमवीक्षण किया जाए। दोनों ही विकल्प ठीक हैं। मैंने अधिकतर दूसरे का आश्रय लिया है।

**ल** तथा **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी तैयार करने के लिए हमने चालक गुच्छ से लेकर 3·4·77–78 तक का क्रमवीक्षण किया। **ल** का प्रयोग 3·4·77, 3·4·67 तथा 1·4·99 में हुआ है :

(20·28) **ल** # 1·4·99, 3·4·67, 3·4·77

इस प्रसंगानुक्रमणी से यह सूचना मिली कि **ल** प्रत्यय हैं और इनका प्रयोग सकर्मक धातुओं के बाद कर्तृ तथा कर्म और अकर्मक धातुओं के बाद 'भाव' का **द्योतन** करने के लिए होता है। यहीं यह सूचना भी मिलती है कि **ल** के आदेश (replacements) परस्मैपद की संज्ञा पाते हैं। **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी में निम्न सूत्रों का आकलन मिलता है।

(20·29) **तिङ्** # 1·4·100, 1·4·101, 1·4·102, 1·4·104 इन सूत्रों से यह सूचना मिलती है कि **तिङ्** नौ-नौ के दो वर्गों में विभक्त किए जाते हैं। प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन **तिङों** के तीन त्रिक् हैं। प्रत्येक त्रिक् क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष के रूप हैं। इन पुरुष रूपों में भी क्रमशः एकवचन, द्विववचन और बहुवचन के रूप हैं।

**ल** की प्रसंगानुक्रमणी में कहा जा चुका है कि इसके आदेश **परस्मैपद** की संज्ञा पाते हैं। चूँकि **तिङ्** 3·4·77–78 के साक्ष्य पर **लादेश** ही माने जाएँगे, **तिङ्** स्वतः **परस्मैपद** संज्ञा भी पा लेंगे। पर **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी में 1·4·100 सूत्र भी है जिसके साक्ष्य पर **तिङों** के द्वितीय वर्ग अर्थात् **तङ्** को **आत्मनेपद** की संज्ञा दी गई है। ऊपर दी गई सूचनाओं के आधार पर हमें **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी का निम्नलिखित स्वरूप मानना पड़ेगा :

(20·30) **तिङ्** # $\begin{cases} \rightarrow \textbf{ल} : \textbf{तिङ्} : \textbf{परस्मैपद} \\ \rightarrow \textbf{ल} : \textbf{तङ्} : \textbf{आत्मनेपद} \end{cases}$

इससे यह भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त प्रसंगानुक्रमणियाँ मिश्रित

(complex) हैं। तात्पर्य यह है कि एक पारिभाषिक शब्द अथवा उसके प्रतिनिधि रूपों की प्रसंगानुक्रमणी में दूसरे पारिभाषिक शब्द अथवा उसके प्रतिनिधि रूप का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए **ल** और **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणियों **परस्मैपद** और **आत्मनेपद** का प्रयोग। इसका तात्कालिक प्रभाव यह है कि **परस्मैपद-आत्मनेपद** की प्रसंगानुक्रमणी भी तैयार करनी होगी। इसके लिए हमें 1·3·12 से 1·3·78 सूत्रगुच्छ का क्रमवीक्षण करना होगा। यहाँ से उपलब्ध सूचना का सारांश यह है कि जब **भाव** और **कर्म** की **अभिव्यक्ति**[1] क्रिया पदों से करनी हो तो **आत्मनेपद** का प्रयोग करना चाहिए।[2] इसके विपरीत जब क्रियापद द्वारा कर्तृ की अभिव्यक्ति मात्र ही अपेक्षित हो तो परस्मैपद लादेशों का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि लादेशों के चयन में परस्मैपद आत्मनेपद का विभाजन एक दूसरा ही पक्ष प्रस्तुत करता है और इस दृष्टि से भी 'द्योतन-अभिव्यक्ति' में तात्विक अंतर महत्वपूर्ण हो जाता है।

---

1. पृष्ठ 20 पर **ल** की प्रसंगानुक्रमणी के संदर्भ में **कर्तृ**, **कर्म** और **भाव** के **'द्योतन'** (naming) की बात कही गई है। यहाँ **'अभिव्यक्ति'** शब्द का प्रयोग जान बूझकर किया जा रहा है। वस्तुतः **'द्योतन'** से तात्पर्य यह है कि कोई भी क्रिया वाक्य में **कर्तृ**, **कर्म** या **भाव** की उपस्थिति संकेतित भर करती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि क्रियाओं के स्वरूप और अर्थ के आधार पर उन क्रियाओं वाले वाक्यों में **कर्तृ**, **कर्म** या **भाव** का प्रयोग हो सकता है; कैसे हो सकता है यह द्योतन का विषय नहीं। कैसे का संबंध **'अभिव्यक्ति'** पक्ष से है। अर्थात् द्योतित **कर्तृ**, **कर्म** और **भाव** की अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह क्रिया धातु के बाद आने वाले प्रत्ययों द्वारा ही संभव हो। उनकी अभिव्यक्ति सुप् अथवा अन्य माध्यमों से भी हो सकती है। धातु के बाद आने वाले प्रत्ययों का ही चयन यदि अभिव्यक्ति के लिए किया गया तो भी **आत्मनेपद** और **परस्मैद** के विकल्प प्राप्त हैं।

   उदाहरण के लिए कोई सकर्मक धातु **कर्तृ** या **कर्म** की उपस्थिति का द्योतन तो कर सकती है पर जब उनकी अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है तो हमें विकल्प प्राप्त हैं। **कर्तृ** की अभिव्यक्ति तृतीया विभक्ति से हो सकती है—ऐसी स्थिति में **कर्म** की अभिव्यक्ति **तिङ्** से होगी और फलतः वाक्य कर्मवाच्य का होगा। इसी तरह यदि कर्तृ की अभिव्यक्ति **तिङ्** से हो तो कर्म की अभिव्यक्ति द्वितीया विभक्ति से होगी और परिणामस्वरूप वाक्य कर्तृवाच्य का होगा। इस तरह **'द्योतन'** और **अभिव्यक्ति** प्रक्रिया के दो स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं—एक का स्वरूप अमूर्त (abstract) है तो दूसरे का मूर्त (concrete)। एतदर्थ इनके तात्विक अंतर को मानकर चलना ही उचित प्रतीत होता है।

2. 1·3·12 से 1·3·78 के सूत्र-गुच्छ में **आत्मनेपद-परस्मैपद** लादेशों के प्रयोग हेतु क्रिया धातुओं की अनेक विशेषताओं का परिगठन किया गया है। यहाँ इसका विशद विवरण देना संभव नहीं। विस्तारभय से मैं **परस्मैपद-आत्मनेपद** की प्रसंगानुक्रमणी का भी पूर्ण विवरण नहीं दे सकता।

9516

अब आइए **सुप्** की प्रसंगानुक्रमणी पर। 1·4·100 से 1·4·104 तक के सूत्रों में ही इसका भी स्पष्टीकरण हमें मिलता है। इसके अनुसार **सुप्** तीन-तीन के सात त्रिकों में विभक्त हैं जहाँ प्रत्येक त्रिक् में तीन रूप क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के लिए हैं। **तिङों** के साथ-साथ **सुपों** को संयुक्त रूप से **विभक्ति** की संज्ञा दी गई है। **सुप्** के सात त्रिक् क्रमशः **प्रथमा, द्वितीया,** तृतीया, इत्यादि के नाम से पुकारे गए हैं।

इस प्रकार **सुप्** की प्रसंगानुक्रमणी में **सुप्, विभक्ति, प्रथमा, एकवचन** इत्यादि सभी पारिभाषिक तत्वों का आकलन अनिवार्य हो जाता है। जिस प्रकार **तिङ्** की प्रसंगानुक्रमणी में **परस्मैपद-आत्मनेपद** का स्पष्टीकरण अनिवार्य हो गया था उसी प्रकार यहाँ **विभक्ति** का संदर्भ भी अनिवार्य है। इस पारिभाषिक शब्द से विभक्ति प्रकरण (2·3·1––)के क्रमवीक्षण की प्रेरणा मिलती है। विभक्ति प्रकरण चूँकि 2·3·1 : **अनभिहिते** के अधिकार में है। इसलिए कारकों का संदर्भ स्वतः अनिवार्य हो जाता है।[1] परिणामतः **सुप्** की प्रसंगानुक्रमणी तैयार करने में हमें क्रमशः विभक्ति-कारक प्रकरणों का भी क्रमवीक्षण करना होगा। **सुपों** का चयन करने से पहले 2·3·1 : **अनभिहिते** की शर्त पूरी करने के लिए हमें **तिङों** को देखना होगा। इस तरह **सुप्** और **तिङ्** का चयन परस्पर अंतरावलंबी (interdependent) है और इस संदर्भ में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं :

(22·31) दोनों के चयन में प्रसंगानुक्रमणियों का तैयार किया जाना आवश्यक है।

(22·32) प्रसंगानुक्रमणियों में नए पारिभाषिक शब्दों अथवा उनके प्रतिनिधि रूपों का प्रयोग धीरे-धीरे **सुप्** और **तिङ्** के चयन संबंधी अन्य प्रसंगों को निकट लाते हैं।

(22·33) **सुप्** और **तिङ्** के चयन में परस्पर अंतरावलंबन अनिवार्य है, क्योंकि एक के बिना दूसरे का चयन संभव नहीं। साथ ही इनकी प्रसंगानुक्रमणियाँ एक विशेष स्तर पर कहीं न कहीं एक-दूसरे के संपर्क में अवश्य ही आती हैं। संभवतः इसीलिए पाणिनि ने 1·4·99–1·4·104 के माध्यम से दोनों के उपविभाजनों को एक स्थान पर ही स्पष्ट किया है।

यदि इनके अंतरावलंबन को दृष्टिपथ में नहीं रखा गया तो इनसे संबद्ध

---

[1]. 2·3·1 : **अनभिहिते** '•••यदि अभिव्यक्ति न हो चुकी हो•••'

वस्तुतः जिन अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए (जैसे, कारकार्थ इत्यादि) विभक्तियों का प्रयोग होता है उन अर्थों की अभिव्यक्ति अन्य माध्यमों, (जैसे, **तिङ् कृत् तद्धित समास** आदि) द्वारा भी हो सकती है। 2·3·1 अधिकार सूत्र है और इस तरह विभक्ति प्रयोगों पर इसकी शर्त अर्थात् पूर्व अनभिव्यक्ति का अंकुश लगा हुआ है।

निष्पत्ति के विभिन्न विकल्पों और विवरणों का आभास ही नहीं मिल पाएगा और साथ ही साथ अशुद्धि निष्पत्तियों की संभावना भी बढ़ जाएगी।

नीचे के फ्लो चार्ट (Flow Chart) में इस अंतरावलंबन के विभिन्न आषंगों को प्रस्तुत किया जा रहा है :

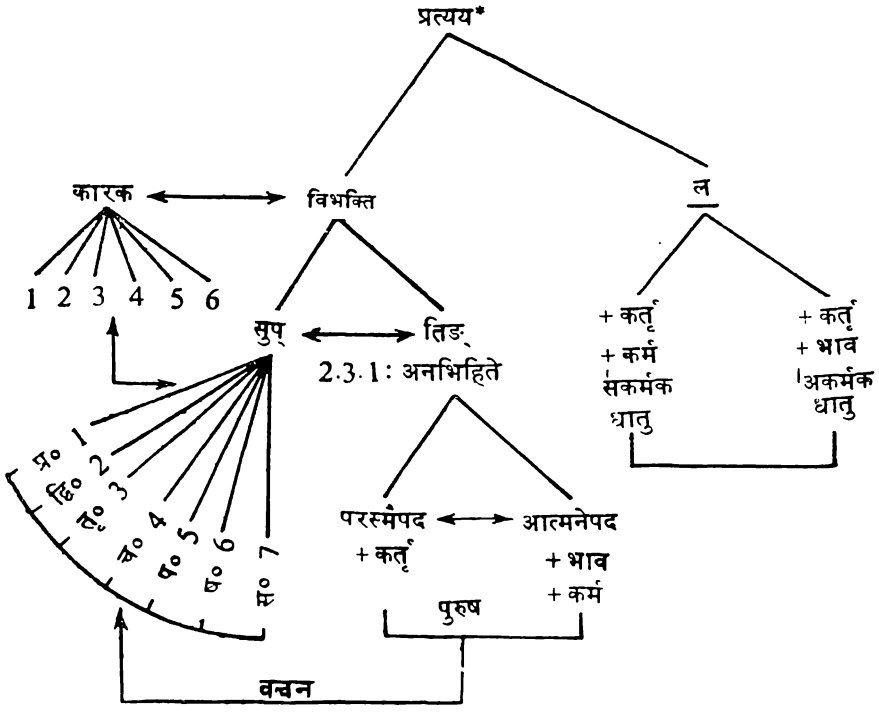


**चित्र संख्या : 4**

**संकेत :**

* इस रेखाचित्र से संबद्ध विषयों की पूर्ण संभावनाओं की प्रस्तुति नहीं की गई है। प्रस्तुत विवरण से सीधा संपर्क रखने वाले आषंगों को ही प्रस्तुत किया गया है।

←→ चिह्न अंतरावलंबन का द्योतन करता है।

प्रसंगानुक्रमणियाँ मात्र सुप् या तिङ् जैसे रूपों के चयन में ही मदद नहीं करतीं, अपितु इनके द्वारा सूत्रार्थ का भी स्पष्टीकरण होता है। साथ ही साथ निष्पत्ति की दिशा पर भी इनका अंकुश होता है। उदाहरण के लिए एक और प्रसंगानुक्रमणी को

लीजिए। पाणिनि में ऐसे अनेक स्थल हैं। यहाँ हम समासों की निष्पत्ति से संबदध एक प्रसंगानुक्रमणी का उल्लेख करेंगे।

सूत्र 2·1·4 के साथ 2·1·2 को पढ़ने पर हमें ज्ञात होता है कि समास प्रक्रिया में (दो) नाम पदों का उपभोग होता है। समस्त रूप को प्रातिपदिक की संज्ञा (14·2) से प्राप्त होती है। सूत्र 2·2·30 के अनुसार समस्त रूपों में **उपसर्जन** पद (गौण) को पहले रखना चाहिए। **उपसर्जन** पारिभाषिक (संज्ञा) शब्द है और इसकी परिभाषा 1·2·43-44 सूत्रों पर दी गई है। यदि सूत्र 2·2·30 पर प्राप्त **उपसर्जन** शब्द की प्रसंगानुक्रमणी तैयार करके 1·2·43-44 सूत्रों को इन समास विधायक सूत्रों को इन समास विधायक सूत्रों के निकट नहीं लाया गया तो हमें यह भी ज्ञात नहीं हो पाएगा कि समास विधायक सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट पद ही उपसर्जन हैं। दूसरे शब्दों में 2·2·30 का प्रयोग **उपसर्जन** की प्रसंगानुक्रमणी तैयार किए बिना असंभव हो जाएगा। इसी तरह इस प्रसंगानुक्रमणी के अभाव में कुछ अन्य प्रक्रियाएँ जैसे **उपसर्जन गो** अथवा स्त्री प्रत्ययांत रूपों का स्वर-ह्रस्वत्व असंभव हो जाएँगी। इसी तरह अव्ययीभाव संज्ञा वाले समासों की निष्पत्ति के क्रम में **अव्ययीभाव** की प्रसंगानुक्रमणी तैयार करने पर ही हमें 1·3·37 और 1·1·41 इत्यादि सूत्रों का संदर्भ ज्ञात होता है। तभी हमें यह भी ज्ञात होता है कि अव्ययों पर लागू होने वाली प्रक्रियाएँ अव्ययीभाव समासों पर भी लागू होंगी।

इसी संदर्भ में **तत्पुरुष** और द्विगु संज्ञाओं का संकेत भी दे देना आवश्यक हो जाता है। **तत्पुरुष** के उपगुच्छ में दिए गए सूत्रों से हमें पता चलता है कि **द्विगु तत्पुरुष** का ही एक उपवर्ग है। यदि प्रसंगानुक्रमणियों की आवश्यकता को ध्यान में न रखा जाए तो **द्विगु** की प्रसंगानुक्रमणी नहीं तैयार होगी और यदि ऐसा नहीं किया गया तो किसी भी रूप में हमें यह नहीं मालूम होगा कि तत्पुरुष का ही एक उपभेद **कर्मधारय** भी है। यह सूचना सूत्र 1·2·42 पर दी गई है। संक्षेप में प्रसंगानुक्रमणियाँ पाणिनि की प्रजनक प्रविधियों का एक अपरिहार्य अंग हैं। इनकी आवश्यकता को सक्रियता प्रदान करने वाले सिद्धांत को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :

(24·34) प्रक्रिया सूत्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द अथवा उनके प्रतिनिधि रूप यह अनिवार्य कर देते हैं कि पारिभाषिक (संज्ञा) शब्दों अथवा रूपों की प्रसंगानुक्रमणी तैयार की जाए। प्रसंगानुक्रमणी में ऐसे सभी सूत्रों का संग्रह होता है जो विचार्य संज्ञा शब्द की परिभाषा देते हैं या उनके प्रतिनिधि रूपों का परिगणन करते हैं अथवा इन दोनों से संबद्ध किसी प्रक्रिया या अधिकार का संकेत देते हैं। इस प्रकार एक पारिभाषिक शब्द **क** व्याकरण में अपनी समस्त प्रयोगावृत्तियों यथा $\mathbf{क}_1, \cdots \mathbf{क}_n$ के साथ एक

ऐसी शृंखला का निर्माण करता है जिसमें प्रत्येक प्रयोगावृत्ति अपने स्पष्टीकरण अथवा प्रतिनिधिरूपों की सूचना के लिए $क_1$ पर निर्भर करती है। इस शृंखला का अंतिम रूप (क्रमवीक्षण और विशिष्ट प्रक्रिया के संदर्भ में) ही प्रसंगानुक्रमणी तंत्र को सक्रिय बनाता है और प्रथम रूप अर्थात् $क_1$ सदैव ही चालक गुच्छ से आता है। यदि किसी प्रसंगानुक्रमणी में एक से अधिक पारिभाषिक शब्द या रूप आते हैं तो उस प्रसंगानुक्रमणी को मिश्र (complex) माना जाएगा।[1]

**सुप्** और **तिङ्** के चयन की समस्या का समाधान ढूँढ़ने के प्रयास में प्रसंगानुक्रमणियों की चर्चा आवश्यक थी। अब आइए **कुमारः** के व्युत्पत्ति वृत्त पर। **सुप्** के चयन के प्रश्न पर हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि **तिङ्** के साथ इसका अंतरावलंबन है। **कुमारः** की सिद्धि में इस अंतरावलंबन का क्या स्वरूप होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हमें यह निर्णय लेना होगा कि हम **कुमारः** को **कुमारः पुस्तकं पठति** जैसे किसी वाक्य में प्रयुक्त एक पद मानते हैं। अथवा हम इसे वाक्य-संदर्भ-विहीन पद मात्र ही मानते हैं। वाक्य-संदर्भ सहित पद मानने में **तिङ्** के साथ इसका अंतरावलंबन अवश्यंभावी हो जाता है। उदाहरण के लिए हमें यह पता करना होगा कि **कर्तृ** और **कर्म** की अभिव्यक्ति **तिङ्** से होगी या **सुप्** से। यदि **कर्तृ** की अभिव्यक्ति **तिङ्** अर्थात् **पठ्**+**अ**+**ति** (क्रियापद) द्वारा हुआ तो **कुमार** के साथ मात्र प्रथमा-एकवचन **सु** का ही प्रयोग किया जा सकेगा। यदि **कर्तृ** की अभिव्यक्ति-क्रियापद नहीं करता तो ऐसी स्थिति में उसकी अभिव्यक्ति हेतु **कुमार** के साथ तृतीया एकवचन का प्रयोग करना आवश्यक हो जाएगा।

यदि वाक्य-संदर्भ-विहीन पद निष्पन्न करना चाहते हैं तो अंतरावलंबन का प्रश्न ही नहीं उठता और **सु** कुमार के साथ प्रातिपदिकार्थ, लिंग और वचन का ही अर्थ अभिव्यक्त कर सकेगा। कई भाषावैज्ञानिक भ्रमवश यह मानते हैं कि पाणिनि में उच्चतम निष्पन्न इकाई पद (शब्द) ही है, एतदर्थ पाणिनि व्याकरण आधुनिक अर्थ में पदग्रामिक है, वाक्यग्रामिक नहीं। वस्तुतः वाक्य-संदर्भ-सहित या वाक्य-संदर्भ-विहीन दोनों ही पक्षों की निष्पत्ति पाणिनि व्याकरण में संभव है। जब कारकेतर अर्थ में विभक्तियों का प्रयोग होता है तब पाणिनि व्याकरण में हम पदग्रामिक पद की बात करते हैं। कारक अर्थ में प्रयुक्त सुबंत पद वाक्यस्तरीय इकाइयाँ हैं। यहाँ हम जिस

---

1 विस्तारभय से यहाँ केवल संज्ञा शब्दों से संबद्ध प्रसंगानुक्रमणियों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। पाणिनि व्याकरण में प्रसंगानुक्रमणियों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—**इंडो-इरानियन जर्नल में** मेरा शीघ्र प्रकाश्य निबंध और शोध-प्रबंध (1971)।

उदाहरणों की चर्चा कर रहे हैं वे पदग्रामिक इकाइयाँ ही हैं। **सुप्** के चयन के बाद हमारे निवेश का स्वरूप होगा :

**कुमार + सु**

यहाँ **सु** का **उ** इत् है, इसलिए **उ** की इत्संज्ञा और उसका लोप होकर निवेश का स्वरूप होगा : **कुमार+स्**। इत्संज्ञा-लोप संबंधी प्रक्रिया के संदर्भ में भी एक सैद्धांतिक स्थापना आवश्यक हो जाती है :

(26·35) जब कभी भी किसी निवेश के बाद कोई रूप जुड़ता है अथवा किसी पूर्व रूप (ध्वनि नहीं) के स्थान में कोई आदेश आता है तो चालक गुच्छ् द्वारा उसका परीक्षण और इत्संज्ञा/लोप दोनों ही आवश्यक हो जाते हैं।

**कुमार** के बाद **सु** के जुड़ने से **कुमार+सु** का चालक अधिगुच्छ द्वारा परीक्षण अनिवार्य हो गया। 1·3·2 और 1·3·9 द्वारा **उ** का इत्संज्ञा/लोप हुआ। अब **कुमार+स्** के **स्** का 1·2·41 द्वारा **अपृक्त** संज्ञा हुई। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि 1·3·2 और 1·3·9 के बाद 1·2·41 का लगना क्रमवीक्षण की प्रक्रिया की दृष्टि से कैसे उचित है? वस्तुतः इत्संज्ञा/लोप पहले होगा और चूंकि एक निवेश **कुमार+सु** पर कार्य (इत्संज्ञा/लोप) हुआ है, इसलिए उसके परिणाम—**कुमार+स्** का परीक्षण अनिवार्य हो जाएगा। इस तरह,

(26·36) जब भी किसी निवेश पर किसी प्रक्रिया सूत्र द्वारा कोई कार्य होगा, उसके परिणाम का चालक गुच्छ द्वारा परीक्षण अनिवार्य हो जाएगा।

इस स्थापन और ऊपर इत्तिसंज्ञा/लोप तथा **अपृक्त** संज्ञा के उदाहरण को देखते हुए लगता है कि चालक गुच्छ का क्रमवीक्षण बार-बार करना होगा और हर बार आरंभ से लेकर किसी उपयुक्त सूत्र के लगने तक। वस्तुतः इसका कोई दूसरा विकल्प नहीं।

**अपृक्त** संज्ञा का तात्पर्य भी हमारी पिछली स्थापना के अनुरूप ही है, देखिए—(17·24)। संज्ञाएँ ही क्रमवीक्षण को दिशा देती हैं और जिस अधिकार में सूत्र लग सकते हैं वहाँ निवेशों को भेजती हैं। मूल निवेश अनिवार्य गुच्छ को भेजे जाते हैं और व्युत्पन्न निवेश संज्ञा निर्देशानुसार अन्य अधिकारों को। प्रश्न यह उठता है कि **कुमार+स्** को **अपृक्त** संज्ञा के निर्देशानुसार कहाँ भेजा जाए। इसके लिए क्रमवीक्षण 6·1·1 से आरंभ होगा क्योंकि (1) अनिवार्य गुच्छ का क्रमवीक्षण हो चुका है : (कुमार+सु) के साथ और (2) 6·1·1 वाले सूत्र इसके तुरंत बाद ही आते हैं। यहीं यह भी विचार्य है कि **अपृक्त** संज्ञा का उल्लेख करने वाला कोई भी अधिकार सूत्र नहीं है, फिर कैसे मालूम हो कि सूत्र कहाँ लगेंगे। हमारी पिछली स्थापना (17·24)

को थोड़े परिष्कृत रूप में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है :

(27·37) जब कभी किसी संज्ञा द्वारा किसी विशेष अधिकार तक न जाया जा सके तब क्रमवीक्षण द्वितीय अध्याय का परीक्षण करता है और पुनः 6·1·1 से लेकर उन सूत्रों का परीक्षण करता हैं जो किसी संज्ञा के अधिकार में नहीं हैं। यहाँ स्पष्टतः 6·1·1 से 6·3 तक के सूत्रों का तात्पर्य है।

**कुमार+स्** को **अपृक्त** संज्ञा के परिप्रेक्ष्य में 6·1·1 इत्यादि सूत्रों के साथ देखना व्यर्थ ही हुआ, क्योंकि इस संज्ञा के रहते हुए भी कोई सूत्र नहीं लगा। क्या यह प्रयास सचमुच ही व्यर्थ होगा ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें अगली निष्पत्ति तक रुकना होगा।

**कुमार + स्** को पुनः चालक गुच्छ को सौंपने पर हमें यह पता चलता है कि **कुमार** पर **स्** की उपस्थिति में **अंग** संज्ञा लागू होती है। इस संज्ञा का प्रयोजन **कुमार + स्** को अंग गुच्छ (6·4·1 इत्यादि) में भेजना ही है। यहाँ भी कोई सूत्र नहीं लगा, एतदर्थ यहाँ से पुनः चालक गुच्छ में **कुमार + स्** की पद संज्ञा हुई जिसके अनुसार इसे पदगुच्छ का निवेश बनाया गया। यहाँ सूत्र 8·2·66 के लगने से **कुमार + स्** के **स्** के स्थान पर **रु** आया :—

$$\text{कुमार} + \text{स्} \rightarrow 8\cdot2\cdot66 \Rightarrow \text{कुमार} + \text{रु}$$

अब (26·36) के अनुसार **कुमार + रु** को चालक गुच्छ को सौंपा जाएगा जहाँ **रु** के **उ** का इत्संज्ञा/लोप होगा; साथ ही साथ 1·4·110 के अनुसार **र्** की **अवसान** संज्ञा भी होगी और तभी 8·3·15 के लगने से **र्** →विसर्ग में परिणत होगा और इस तरह **कुमार** + : ⇒ **कुमारः** सिद्ध हो जाएगा।

(27·38) $\text{नि}_1 + \text{प्र}_1 + \text{वि}_1 = \textbf{कुमारी}$

(अ) कुमार →1·2·45 [चा]
→4·1·1, 4·1·3, 4·1·20 [अ]
⇒ कुमार + ङीप् →1·3·3, 1·3·9 [चा]
⇒ कुमार + ङी →1·3·8, 1·3·9 [चा]
⇒ कुमार + ई

(ब) कुमार + ई →1·4·13 [चा]
→6·4·1, 6·4·129 # [अं]
1·4·18 [चा]
6·4·148 [अं]
⇒ कुमार् + ई ⇒ कुमारी

(स) कुमारी →4·1·1, 4·1·2 [अ]
⇒ कुमारी + सु →1·3·2, 1·3·9 [चा]
⇒ कुमारी + स्
(द) कुमारी + स् →1·2·41 [चा]
→6·1·68
⇒ कुमारी + ϕ ⇒ कुमारी
(य) कुमारी →1·4·14 [चा]
→8·3·15 [प]
⇒ कुमारी

ऊपर के व्युत्पत्ति-वृत्त से स्पष्ट हो जाता है कि पहली ही तरह प्रातिपदिक संज्ञा होने के बाद **कुमार** को 4·1·1 के अधिकार में प्रवेश मिल गया पर विवक्षा भिन्न होने के कारण 4·1·2 सूत्र नहीं लग पाया। इसके विपरीत 4·1·3 के अंतर्गुच्छ में 4·1·20 की प्राप्ति स्वीकार करना विवक्षा के अनुकूल भी था। यहाँ **स्त्री** अर्थ में **कुमार** प्रातिपदिक के बाद ङीप् प्रत्यय की प्राप्ति हुई। **ङीप्** के ङ तथा प् की इत्संज्ञा/लोप के बाद **कुमार** + **ई** बचा, जिसमें **ई** की उपस्थिति के कारण **कुमार** की अंग संज्ञा हो गई और फलतः **कुमार** + **ई** को अंगाधिकार का निवेश बनाया गया। यहाँ सूत्र 6·4·148 के लगने से कुमार के अंत्य **अ** का लोप हो गया और इस तरह कुमार् + ई ⇒ **कुमारी** शेष रहा। सूत्र 6·4·148 अंगाधिकार में ही है, पर जिस अंतर्गुच्छ में इसे रखा गया है उसका अधिकार सूत्र है—6·4·129 : **भस्य**। अब यदि यहाँ **भ** की प्रसंगानुक्रमणी न तैयार की गई तो 1·4·18 यचि भम् सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी और इसके अभाव में 6·4·148 का लगाना असंभव हो जाएगा।

अब **कुमारी** को पुनः 4·1·1 के अधिकार में भेजकर पद-सिद्धि हेतु **सु** का आगम स्वीकार किया गया। परिणाम हुआ : **कुमार** + **सु**। इत्संज्ञा/लोप एवं **अपृक्त** इत्यादि कार्य पूर्ववत् ही हैं। अपृक्त संज्ञा होने से 6·1·68 सूत्र लगा और स् का लोप हो गया। (13·12) की अपृक्त संज्ञा के संदर्भ में हमने स्वीकार किया था कि 6·1·1 इत्यादि सूत्रों का क्रमवीक्षण व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। क्योंकि **कुमार** + **स्** पर कोई सूत्र नहीं लगा। वस्तुतः निष्पत्ति प्रक्रिया में संज्ञाओं का अंकुश स्वीकार करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि संज्ञा निर्देशानुसार क्रमवीक्षण किया जाए, क्योंकि उसके बाद ही हमें ज्ञात हो पाएगा कि संबद्ध निवेश पर सूत्र लगेंगे या नहीं।

तीसरे पद प्रकार के उदाहरण के लिए हमने **गार्गिः** का व्युत्पत्ति-वृत्त लिया है :

(28·39) नि$_1$ + प्र$_2$ + वि$_1$ = गार्गिः

(अ) गर्ग →1·2·45 [चा]
→4·1·1, 4·1·76,
4·1·82, 4·1·83, [अ]
4·1·93#
⇒ गर्ग + ङस् + अण् →4·1·95
⇒ गर्ग + ङस् + इञ्

(ब) गर्ग + ङस् + इञ् →2·4·71
⇒ गर्ग + ϕ + इञ् →
1·3·3, 1·3·9
⇒ गर्ग + इ →1·4·13

(स) गर्ग + इ →6·4·1 [अं]
6·4·129, 6·4·148, 7·2·117
⇒ गार्ग् + इ

(द) गार्ग् + इ ⇒ गार्गि → 1·2·46 [चा]
4·1·1, 4·1·2#
⇒ गार्गि + सु
(शेष 17·12) की तरह ही)
⇒ गार्गिः

**गार्गिः** की निष्पत्ति में विवक्षा स्पष्टतः 'गर्गापत्य' थी और इसके मूल अर्थ को व्यक्त करने वाले **गर्ग** और **अपत्य** शब्द रूपों को लिया गया। प्रातिपदिक संज्ञा और सुप् चयन के बाद हमें निम्नलिखित रूप उपलब्ध हुआ :

**गर्ग + ङस् + अपत्य + सु**

अनिवार्य गुच्छ के क्रमवीक्षण में हमें 4·1·82, 4·1·83 सूत्रों का संदर्भ मिलता है जिनके अनुसार **अण्** प्रत्ययों की प्राप्ति प्रथम समर्थ पद के बाद विकल्प से होती है। चालक गुच्छ के अनुसार **गर्ग + ङस् अपत्य + सु** पद हैं तथा 4·1·82 का **समर्थ** शब्द 2·1·1 को भी अपने निकट खींच ही लाएगा। वस्तुतः हम यहाँ **पदविधि** की एक विशिष्ट प्रक्रिया से गुज़र रहे हैं। यह प्रक्रिया वैकल्पिक है और इसके अनुसार **समर्थ** पदों का होना पहली शर्त है। दोनों विकल्पों के अनुसार सिद्धियों का स्वरूप निम्नलिखित है :

(29·40) गर्ग + ङस् अपत्य + सु ⇒ गर्गस्य अपत्यम्
(29·41) गर्ग + ङस + इञ् ⇒ गार्गिः

यहाँ इञ् प्रत्यय सामान्य **अपत्य** अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **गर्ग** + ङस् + इञ् तद्धित प्रत्ययांत होने के कारण सूत्र 1·2·46 : **कृत्तद्धित समासाश्च** से प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त करता है। प्रातिपदिक संज्ञा होने से इसे पुनः 4·1·1 के अधिकार में भेजने की बात तुरंत उठ सकती है। वस्तुतः इसमें जल्दी करना उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (1) **गर्ग** + ङस् + इञ् उसी अधिकार का व्युत्पन्न निवेश है, एतदर्थ इसे तुरंत वहाँ फिर भेजना बेतुका लगता है; साथ ही (2) प्रक्रिया की दृष्टि से प्रत्यय-कार्य तो हो ही चुका है। ऐसी स्थिति में हमारी पिछली स्थापना (27·37) के अनुसार यह व्युत्पन्न निवेश 2·1·1 से अपना क्रमवीक्षण आरंभ करेगा। **समास** इत्यादि के उपगुच्छों का प्रकार्यात्मक संदर्भ इसे उन उपगुच्छों में नहीं जाने देगा और इससे क्रमवीक्षण में शीघ्रता आएगी। सूत्र 2·4·71 के लगने से **प्रातिपदिक** संज्ञा का प्रयोजन सिद्ध होगा और ङस् के **लुक्** हो जाने के कारण हमारे नए व्युत्पन्न निवेश का रूप यह होगा :

(30·42) **गर्ग** + ङस् + इञ् →**2·4·71**
⇒ **गर्ग** + **लुक्** + **इञ** ⇒ **गर्ग** + $\phi$ + **इञ्**
⇒ **गर्ग** + **इञ्**

**लुक्** कार्य हो जाने के बाद इसे चालक गुच्छ में जाना ही होगा। देखिए—(26·36)। यहाँ सूत्र 1·4·13 द्वारा **इञ्** की उपस्थिति में **गर्ग** की अंग संज्ञा होगी; साथ ही ञ् के इत्संज्ञा/लोप की भी प्राप्ति होगी। तदनंतर **गर्ग** + **इ** को अंगाधिकार (6·4·1) में प्रवेश मिल जाएगा, जहाँ 6·4·148 द्वारा **गर्ग** के अंतिम **अ** का लोप होगा और 7·2·117 द्वारा इसके पूर्व **अ** की वृद्धि हो जाएगी। परिणामतः हमें **गर्ग** + **इ** →6·4·148 ⇒ **गर्ग्** + **इ** और **गर्ग्** + **इ** →7·2·117 ⇒ गार्ग् + इ ⇒ गार्गि की प्राप्ति हो जाएगी। अब चालक गुच्छ द्वारा इसकी पुनः प्रातिपदिक संज्ञा होगी और 4·1·1, 4·1·2 इत्यादि के लगने से **गार्गि** + **सु** ⇒ गार्गिः की सिद्धि हो पाएगी।

पद निष्पत्तियों के क्रम में हमने जो चौथा उदाहरण लिया है वह भी तद्धितांत ही है। पर पिछले उदाहरण से यह दो अर्थों में भिन्न है। एक तो यह सामान्य अपत्य अर्थ में न होकर गोत्रापत्य (पौत्र इत्यादि) अर्थ में है और दूसरे निष्पत्ति स्त्रीलिंग की है :

(30·43) $\text{नि}_1 + \text{प्र}_2 + \text{प्र}_1 + \text{वि}_1 =$ गार्गी
गार्गि + ङस् अपत्य + सु ⇒ गार्गेरपत्यम्
अथवा
गर्ग + ङस् + यञ् ⇒ गार्ग्य[1]

---

[1] यद्यपि विग्रह की दृष्टि से **गार्गेरपत्यम्** (गार्गि का अपत्य) का प्रयोग होता है, पर इस अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु प्रत्यय का प्रयोग मूल प्रकृति अर्थात् **गर्ग** के बाद ही होता है।

गार्ग्य + ङीप् ⇒ गार्गी

(अ) गर्ग + ङस् अपत्य + सु →4·1·82, 4·1·93
⇒ गर्ग + ङस् + यञ् →1·2·46, 2·4·71
⇒ गर्ग + लुक् + यञ् ⇒
गर्ग + $\phi$ + यञ्

(ब) गर्ग + यञ् →1·3·3, 1·3·9, 1·4·13
⇒ गर्ग + य →6·4·1, 6·4·129,
6·4·148 ⇒
गर्ग् + य →7·2·117
⇒ गार्ग् + य ⇒ गार्ग्य

(स) गार्ग्य→ 1·2·46 4·1·1
4·1·3, 4·1·16
⇒ गार्ग्य + ङीप्→1·3·3, 1·3·8-9

(द) गार्ग्य + ई→1·4·13, 6·4·1
6·4·148, 6·4·150
⇒ गार्ग् + ई ⇒ गार्गी

(य) गार्गी→1·2·46, 4·1·1
4·1·2 इत्यादि (शेष (27·38) की तरह)
⇒ गार्गी

अब तक के विवेचन के आधार पर **गार्गी** का व्युत्पत्ति-वृत्त स्वतः स्पष्ट हो जाता है। यह पहली दो निष्पत्तियों की तुलना में बाद की दो निष्पत्तियाँ जटिल हैं और इनसे कई रोचक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए (28·39) गार्गिः और (30·43) गार्गी दोनों में ही 4·1·1 के अधिकार में प्राप्त होने वाले विकल्पों का उपयोग किया गया है। 4·1·1 के अधिकार में प्रविष्ट (मूल) निवेशों को निम्नलिखित विकल्प प्राप्त होते हैं:

(31·44) [4·1·1 (4·1·2 इत्यादि)] → पद

$\begin{cases} [4\cdot1\cdot1\ (4\cdot1\cdot3\ \text{इत्यादि})] \rightarrow \text{स्त्री प्रत्ययांत} \\ [4\cdot1\cdot1\ (4\cdot1\cdot2)\ (4\cdot1\cdot82)] \text{ तद्धितांत} \end{cases}$

अंतिम दो विकल्पों के व्युत्पन्न निवेश पुनः 4·1·1 के निवेश बनते हैं और इस सत्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि इन विकल्पों को स्वीकार किया गया तो निष्पत्ति का स्वरूप आवर्त्तक (cyclic) माना जाएगा। तात्पर्य यह है कि 4·1·1 के बाद यदि 4·1·3 का विकल्प स्वीकार किया गया तो निष्पत्ति का चक्र (cycle) पुनः 4·1·1 पर आकर पूरा होगा। इसी तरह यदि 4·1·1, 4·1·2 के साथ 4·1·82 का विकल्प लिया गया तो निष्पत्ति का एक अन्य चक्र पुनः 4·1·1 पर आकर पूरा होगा। दोनों ही निष्पत्ति चक्रों के पूरा होने पर पदसिद्धि के लिए 4·1·2 का लगना अनिवार्य हो जाएगा।

आधुनिक जेनरेटिव व्याकरणों में आवर्त्तक नियमों के प्रयोग पर इधर विशेष अध्ययन हो रहा है और इस दृष्टि से ऊपर के विकल्प अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसी संदर्भ में एक दूसरी महत्वपूर्ण बात आवर्त्तक नियमों के परस्पर संबंध को सामने लाती है। जेनरेटिव व्याकरणों में आवर्त्तक नियमों के चक्र का तो विवरण दिया गया मिलता है पर विभिन्न चक्रों के पारस्परिक संबंध और उनके परिणामों के बारे में सूचना नहीं के बराबर है। पाणिनि व्याकरण में इन संबंधों के बारे में कुछ स्पष्ट धारणाएँ बनाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए दूसरे और तीसरे दोनों ही विकल्पों का चक्र 4·1·1 पर आ कर पूरा होता है, पर यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि दो का विकल्प स्वीकार करने पर तीन का विकल्प उपलब्ध नहीं रह जाता। इसके विपरीत तीन का विकल्प पहले लेने पर दो का विकल्प लिया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि आवर्त्तक नियमों में विकल्प की प्राप्ति हो तो सभी विकल्पों का उपयोग कर पाने के लिए हमें अंत्य विकल्प से आरंभ कर आरंभिक विकल्प तक आना होगा। (30·43) के उदाहरण से यह वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है।[1]

आगे हम जिन तीन निष्पत्ति वृत्तों को प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें मूल निवेश के रूप में धातु को स्वीकार किया गया है :

(32·45) $\text{नि}_2 + \text{वि}_2 =$ **पचति**

(अ) पच्→1·3·1

3·1·91, 3·1·123

⇒ पच् + लट्→3·4·77-78#

1·4·99 – 1·4·101

---

[1] पाणिनि व्याकरण में आवर्त्तक नियमों संबंधी व्यवस्थित जानकारी पाने के लिए हमें कृत्, तद्धित, समास, सनाद्यंत तथा स्त्री-प्रत्ययांत रूपों का पूर्ण विवरण देना होगा जो यहाँ संभव नहीं।

⇒ पच् + तिप् → 1·3·3, 1·3·9
⇒ पच् + ति

(ब) पच् + ति ⇒ 3·4·113, 3·1·68
⇒ पच् + शप् + ति
पच् + शप् + ति → 1·3·3, 1·3·8
1·3·9
⇒ पच् + अ + ति

(स) पच् + अ + ति → 1·4·14 इत्यादि
⇒ पच् + अ + ति ⇒
पचति

ऊपर की निष्पत्ति में (अ) स्तर तक का स्पष्टीकरण (विशेषतः तिङ् का चयन) प्रसंगानुक्रमणियों के संदर्भ में किया ही जा चुका है। (ब) स्तर पर 3·4·113 के बाद 3·1·68 सूत्र का लगना कुछ विचित्र सा लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि 3·4·113 के बाद 3·1·68 तक कैसे पहुँच गया ? यदि 3·1·68 को लगना ही था, तो वह पहले ही क्यों नहीं लगा ? हम दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले देंगे। वस्तुतः **पच्** की धातु संज्ञा होने के बाद क्रमवीक्षण की स्थापना (17·24) के अनुसार **पच्** को 3·1·91 **धातोः** के अधिकार का निवेश बनाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था। इस तरह 3·1·68 तक पहुँच पाने का कोई संकेत रहता ही नहीं। दूसरे 3·1·68 **पच्** के संदर्भ में अभी लागू भी नहीं हो पाता, क्योंकि इसके बाद कोई **सार्वधातुक** प्रत्यय था ही नही। ऐसे प्रत्ययों के धातु से परे रहने पर ही 3·1·68 लग सकता है। स्पष्टतः यही शर्त 3·1·68 के पहले लग जाने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक है।

अब हम दूसरे प्रश्न का उत्तर देंगे। ऊपर हम **ल, तिङ्**, परस्मैपद-आत्मनेपद इत्यादि की चर्चा प्रसंगानुक्रमणियों के संदर्भ में कर आए हैं। ये सभी प्रसंगानुक्रमणियाँ परस्पर संबद्ध हैं, क्योंकि **तिङ्**, ल(कारों) के ही आदेश हैं और उन्हें ही परस्मैपद-आत्मनेपद संज्ञाएँ भी मिलती हैं। साथ ही साथ प्रत्यय, विभक्ति, सार्वधातुक-आर्धधातुक संज्ञाएँ भी इनसे संबद्ध हो जाती हैं। इनके चयन में कर्तृ, भाव और कर्मन् की अभिव्यक्तियाँ सहयोगी होती ही हैं। प्रसंगानुक्रमणियों की कार्य प्रक्रिया को ध्यान में रखने पर 3·4·113 से 3·1·68 तक पहुँचना बहुत ही सरल हो जाता है। कारण यह है कि इस सूत्र (3·1·68) के प्रयोग में सार्वधातुक और कर्तृ दो संज्ञाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है और 3·4·113 में सार्वधातुक संज्ञा **ति** को मिलती ही है। इस तरह सार्वधातुक की

प्रसंगानुक्रमणी 3·1·68 तक पहुँचाती है और तद्वत् ही कर्तृ की अभिव्यक्ति में सार्वधातुकति परे रहते **पच्** के बाद शप् का आगम होता है :

**पच् + शप् + ति**

**शप्** के **श्** तथा **प्** के इत्संज्ञा/लोप के बाद **पच् + अ + ति** ⇒ पचति तक पहुँच पाना कोई कठिन नहीं ।

(30·43) की निष्पत्ति के संदर्भ में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 4·1·1 के सूत्र गुच्छ में निष्पत्ति संबंधी तीन विकल्प उपलब्ध हैं और उनमें से दो का चयन जेनरेटिव व्याकरणों के आवर्त्तक नियमों की याद दिलाता है । नीचे हम जिन दो निष्पत्तियों की चर्चा करेंगे उनमें धातु ही मूल निवेश है और इस तरह हमारी स्थापना (17·24) के अनुसार अनिवार्य गुच्छ के 3·1·91 उपगुच्छ में ही सूत्र प्रयोग की सम्भावनाएँ होंगी । 4·1·1 की तरह ही यहाँ भी हमें तीन विकल्प प्राप्त होते हैं । इस तरह दो मूल निवेश अर्थात् **प्रातिपदिक** और **धातु** के आधार पर दोनों के तीन-तीन अर्थात् छह विकल्प उपलब्ध होते हैं। कहना अनावश्यक है कि 4·1·1 और 3·1·91 के गुच्छों में पर्याप्त समानांतरता है । अंतर केवल इतना ही है कि 3·1·91 के विकल्प **धातु** से **पद** या **धातु** से **प्रातिपदिक** की निष्पत्ति करते हैं और 4·1·1 के विकल्प **प्रातिपदिक** से **पद** या **प्रातिपदिक** से **प्रातिपदिक** की । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **धातु** से **प्रातिपदिक** की निष्पत्ति आवर्त्तक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि व्युत्पन्न निवेश **धातु** नहीं होते और स्पष्टतः 3·1·91 की निष्पत्तियों का चक्र 3·1·91 पर आकर पूर्ण नहीं होता।

(34·46) $\text{नि}_2 + \text{प्र}_3 + \text{वि}_1 \Rightarrow$ **पाचक**:

(अ) पच् → 1·3·1
3·1·91, 3·1·93
3·1·95, 3·1·133
⇒ पच् + ण्वुल् → 1·3·3, 1·3·7
1·3·9
⇒ पच् + वु

(ब) पच् + वु → 1·4·13, 6·4·1
7·1·1# 1·3·10
⇒ पच् + अक → 7·2·116
⇒ पाच् + अक ⇒ पाचक

(स) पाचक → 1·2·46, 4·1·1, 4·1·2
⇒ पाचक + सु

(शेष (26·36) की तरह)

⇒ पाचक:

(35·47) नि$_2$ + प्र$_3$ + प्र$_1$ + वि$_1$ ⇒ पाचिका

(अ) तथा (ब) → (34·46) की तरह।

(स) पाचक → 1·2·46, 4·1·1
4·1·3, 4·1·4
⇒ पाचक + टाप् → 1·3·3, 1·3·7
1·3·9
⇒ पाचक + आ

(द) पाचक + आ → 1·4·13, 6·4·1
7·3·44
⇒ पाचिक + आ

(य) पाचिक + आ → 6·1·101
⇒ पाचिक + आ ⇒
पाचिका

(र) पाचिका → 4·1·1, 4·1·2
⇒ पाचिका + सु → 1·3·2, 1·3·9
⇒ पाचिका + स् → 1·2·41, 6·1·68
⇒ पाचिका + $\phi$ ⇒ पाचिका

(ल) पाचिका → 1·4·14 इत्यादि
⇒ पाचिका

ऊपर के दोनों निष्पत्ति वृत्त अपने विभिन्न स्तरों और सूत्र प्रयोगों की दृष्टि से कोई विशेष समस्या नहीं उत्पन्न करते। पर तद्धितों की तरह ही ये भी वाक्य-स्तरीय इकाइयाँ कही जा सकती हैं, क्योंकि इनमें वाक्य या वाक्यांश जैसी इकाइयाँ अथवा उनका अर्थ या दोनों ही अंतर्भुक्त हैं। एतदर्थ इनकी निष्पत्ति प्रक्रिया साधारण पदों की अपेक्षा जटिल है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित को लीजिए :

(35·48) { ( पाचकम्
गार्ग्यम्
राजपुरुषम् ) } + आनय

ऊपर के रेखाचित्र से यदि प्रथम तीन रूपों को क्रमशः क्रियापद **आनय** के साथ पढ़ें तो हमें तीन वाक्य मिलेंगे। सभी रेखांकित पद द्वितीया विभक्ति में हैं और कर्म की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। किंतु यदि इनके आधारभूत प्रातिपदिकों अर्थात् पाचक, गार्ग्य और राजपुरुष को देखें तो ज्ञात होता है कि (1) ये प्रातिपदिकों से प्रातिपदिक बने व्युत्पन्न निवेश हैं और (2) इसीलिए अपने स्वरूप में ये वाक्य या वाक्यांश जैसी इकाइयाँ अंतर्भुक्त किए हुए हैं। इस तरह (35·48) में **पाचकं कर्म** की अभिव्यक्ति कर रहा है पर अपने **प्रातिपदिक** में कर्तृ संबंध भी अंतर्भुक्त किए हुए हैं। **गार्ग्यं** और **राजपुरुषं** के कर्मत्व के पीछे भी षष्ठी संबंध लगा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर के नाम पदों की सिद्धि में जिन प्रातिपदिकों का प्रयोग हुआ है वे श्लिष्ट हैं और अपने आप में कारक या अकारक संबंधों के आधार पर वाक्य या वाक्यांश जैसी इकाइयाँ अंतर्भुक्त किए हुए हैं। ऐसे पदों की सिद्धि और अर्थ-प्रकाशन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम समूची व्युत्पत्ति प्रक्रिया स्पष्ट करें। ये सिद्धियाँ पद-विधि के अंतर्गत आती हैं और पाणिनि व्याकरण में इनका प्रचुर उपयोग किया गया है। इन्हीं पदों की सिद्धियों से यह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि पाणिनि व्याकरण मात्र पदग्रामिक नहीं है, वरन् अनेक अर्थों में यह शुद्ध वाक्यग्रामिक है। इन सिद्धियों की चर्चा करने के पहले हम कुछ अन्य निष्पत्तियों की सूचना भी देना चाहेंगे :

(36·49) पुत्रीयति "अपने लिए पुत्र की चाहना करता है।"

(अ) पुत्र → 1·2·45, 4·1·1
4·1·2, ... इत्यादि।
⇒ पुत्र + अम् ⇒ पुत्रम्

पुत्रं इच्छति → 3·1.7–8

अथवा

पुत्र [ कर्मन् ] + क्यच् ⇒ पुत्र + अम् + य

(ब) पुत्र + अम् + य → 3·1·32, 2·4·71
⇒ पुत्र + ϕ + य ⇒ पुत्रय

(स) पुत्रय → 1·4·13, 6·4·1
7·4·33
⇒ पुत्रीय

(द) पुत्रीय → 3·1·91... इत्यादि
⇒ पुत्रीय + ति..., 3·4·113, 3·1·68
⇒ पुत्रीय + (श्) अ (प्) + ति → 6·1·94
⇒ पुत्रीयति

(37·50) कुम्भकार:

(अ) कुम्भ + अम् + कृ→

3·1·1–2, 3·1·91–93

3·2·1

⇒ कुम्भ + अम् + कृ + अण्

(ब) कुम्भ + अम् + कृ + अण्→1·4·13, 6·4·1

7·2·115

⇒ कुम्भ + अम् + कार् + अ (ण्→$\phi$)

(स) कुम्भ + अम् + कार् + अ→1·2·46, 2·4·71

⇒ कुम्भ + $\phi$ + कार् + अ

⇒ कुम्भकार

(द) कुम्भकार→1·2·46, 4-1·1

4·1.2

⇒ कुम्भकार + सु$_1$ ... इत्यादि ।

⇒ कुम्भकार:

**पाचक, पुत्रीय** और **कुम्भकार** में कारक संबंध अंतर्भुक्त हैं। **गार्ग्य** और **राजपुरुष** में कारकेतर संबंधों की अंतर्भाविना है। **पाचक में** केवल एक मूल निवेश **पच्** का उपयोग हुआ है, जबकि अन्य उदाहरणों में अनेक का। अर्थात् क्रमश: (**आत्मन:**) **पुत्र + इष्; कुम्भ + कृ; गर्ग + अपत्य; राजन् + पुरुष** का एक मूल निवेश का उपयोग करने वाले प्रातिपादक जैसे **पाचक** एक कारक संबंध ही अंतर्भुक्त कर सकते हैं, जबकि एकाधिक मूल निवेशों का उपयोग करने वाले, जैसे **पुत्रीय, कुम्भकार**, एकाधिक कारक संबंधों को अंतर्भुक्त कर सकते हैं। **पाचक** में मात्र कर्तृ संबंध ही अंतर्भुक्त है, जबकि **पुत्रीय** और **कुम्भकार** में कर्तृ और कर्म दोनों ही। यदि एकाधिक मूल निवेशों में कम से कम एक **धातु** हो तो ये कारक संबध अवश्यमेव अंतर्भुक्त होते हैं, किंतु यदि सभी मूल निवेश **प्रातिपदिक** हों तो कारक संबंधों की अंतर्भुक्ति आवश्यक नहीं। **राजपुरुष** और **गार्ग्य** में अंतर्भुक्त षष्ठी संबंध कारकेतर ही है। यदि **प्रातिपदिक** मूल

निवेशों में कारक संबंध अंतर्भुक्त भी हों तो वे प्रायः **कर्तृ, कर्म** और संभवतः **करण** विहीन ही होते हैं।

**पुत्रीयति** की निष्पत्ति में **ति** लादेश है जिसका विवरण दिया ही जा चुका है। सूत्र 3·1·7-8 के अनुसार जब कोई सुबंत पद कर्म की अभिव्यक्ति करे तो अपने लिए चाहना करता है। अर्थात् **आत्मनः इच्छति** के अर्थ में विकल्प से **क्यच्** प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता है। इस तरह यहाँ कर्म और कर्तृ दोनों ही अंतर्भुक्त माने जाएँगे। **कुंभकार** में **कृ** के बाद **अण्** प्रत्यय आया है। यह **अतिङ्** "तिङ् रहित" अर्थात् **कृत** है और 3·4·67 के अनुसार इनका प्रयोग कर्तृ संबंध की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। इसके साथ ही साथ 3·2·1 सूत्र से **अण्** का प्रयोग एक ऐसे उपपद की उपस्थिति का भी संकेत देता है जो **कर्म** है और **सप्तमी** विभक्ति द्वारा संकेतित है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस स्तर पर **कर्तृ** और **कर्म** मात्र द्योतित हैं, अभिव्यक्त नहीं। इस तरह अब तक के स्पष्टीकरण के आधार पर हमें निष्पत्ति का यह सैद्धांतिक स्वरूप स्वीकार करना होगा :

(38·51) कृ + अण्→कार् + अ ⇒ कार

$$\left[\begin{array}{c}\left\{\begin{array}{c}\text{कर्म}\\ \text{उपपद}\end{array}\right\}\\ \text{कर्तृ}\end{array}\right]$$

अब आइए अभिव्यक्ति की ओर। मान लीजिए उपपद कर्म **कुम्भ** है। इस स्थिति में इसकी अभिव्यक्ति के लिए इसके बाद **अम्** का प्रयोग करना होगा : कुम्भ + अम्। कुम्भम् तब उपपद के रूप **में कार के साथ** संयुक्त किया जाएगा और तब हमें कुम्भ + अम्, कार + सु की उपलब्धि **होगी। दोनों** पदों के बीच अवश्यंभावी संबंधों को दृष्टि में रखकर ही यह कहा जाता है कि इनमें सामर्थ्य संबंध है। समस्त पद तत्पुरुष माना जाएगा और स्पष्टीकरण के लिए **कुम्भानां कर्त्ता** अथवा **कुम्भम् करोति** जैसे असमस्त वाक्यों का प्रयोग किया जा सकता है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि **सूत्र** 2·2·19 के **उपपद** शब्द

**से समास** और **समास से उपसर्जन** का योग प्रसंगानुक्रमणियों की रचना द्वारा ही संभव है। इन समस्त प्रसंगानुक्रमणियों को जब सूत्र 2·2·30 के साथ संयुक्त किया जाएगा तभी हमें यह ज्ञात होगा कि सूत्र 2·2·19 में सप्तमी निर्दिष्ट कर्म उपपद है और समास में उपसर्जन होने से पहले आएगा। यदि ऐसा न होता तो **कार कुम्भो** भी समस्त प्रातिपदिक हो सकता था। इस तरह **कुम्भकारः** की समस्त निष्पत्ति-प्रक्रिया नीचे के रेखाचित्र से भलीभाँति समझी जा सकती है :

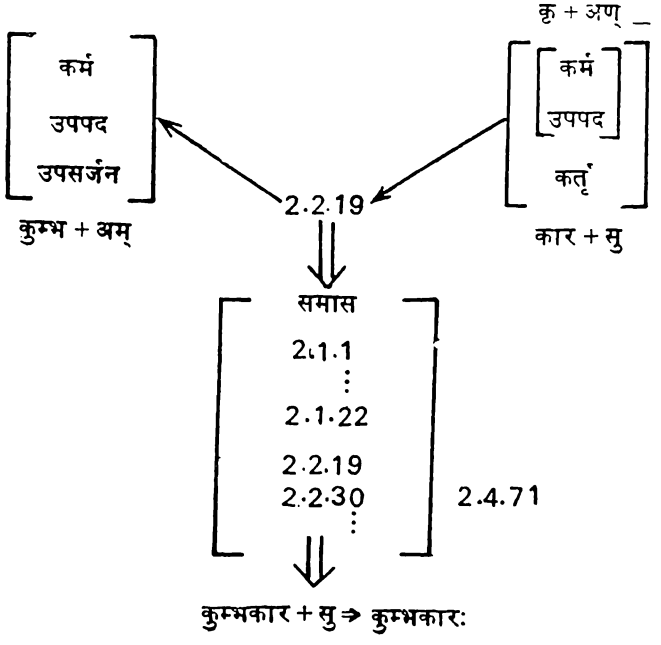


चित्र संख्या : 5

**राजपुरुषः** की निष्पत्ति में कारक संबंध अंतर्भुक्त नहीं, क्योंकि यहाँ **षष्ठी** के प्रयोग से किसी कारक की प्रतीति हो ही नहीं सकती। इन निष्पत्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि पाणिनि व्याकरण की निष्पत्तियाँ पदों को ही केंद्र मानकर चलती हैं। चूँकि ये पद विभिक्त/प्रत्ययों द्वारा विभिन्न कारक-कारकेतर अभिसंबंधों को अंतर्भुक्त कर सकते हैं अथवा उन्हें अभिव्यक्त कर सकते हैं। इन पदों के निष्पत्ति-वृत्त को व्याकरणिक अभिसंबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही देखना उचित होगा। हमने जिन निष्पत्तियों को लिया है

वे सामान्य पद स्तर की हैं, पर उनके वृत्त और संबद्ध सूत्रों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि की प्रजनक प्रविधि रूप को अत्यधिक महत्व देती है, अर्थ को नहीं। साथ ही अब तक के विवरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि के व्याकरणिक मॉडल में मुख्यत्व (centrality) वाक्य विज्ञान का है, पदग्रामिकी का नहीं।

## 3

## अभिसंबंध और अर्थनिर्णय

अपने व्याख्यान के इस अंश में मैं संक्षेप में पदों के निष्पत्ति-वृत्त के आधार पर अर्थ निर्णय की प्रक्रिया स्पष्ट करना चाहूँगा। अब तक यह स्पष्ट हो चुका होगा कि पद निष्पत्ति विवक्षा पर आधारित है। विवक्षा की अमूर्त्त इकाइयाँ पदों के समवाय के रूप में अभिव्यक्ति पाकर वाक्य का स्वरूप ग्रहण करती हैं। प्रत्येक वाक्य में कोई न कोई क्रिया व्यापार अंतर्निहित होता है और उसकी सिद्धि में सहायक तत्व उसके कारक माने जाते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए :

(40·52) **वृक्षात् पत्रं पतति**

(40·53) **उपाध्यायाय गां ददाति**

(40·54) **असिना छिनत्ति**

(40·55) **देवदत्तः स्थाल्यां तण्डुलान् पचति**

इन वाक्यों में क्रमशः **गिरना, देना, काटना** और **पकाना** चार क्रिया-व्यापार अंतर्भुक्त हैं जिनकी सिद्धि में क्रमशः **अपादान, संप्रदान, करण, अधिकरण, कर्म** और **कर्तृ** साधन बनते हैं। एतदर्थ उपरोक्त क्रिया व्यापारों की सिद्धि हेतु ये **कारक** हैं। व्याकरणिक कोटि और अभिसंबंधों की दृष्टि से अष्टाध्यायी का कारक-प्रकरण सर्वाधिक महत्व रखता है। पाणिनि ने क्रिया व्यापारों की सिद्धि में छह कारकों की स्थापना की है। इनके नाम ऊपर दिए ही जा चुके हैं। यहाँ यह जान लेना रोचक होगा कि पाणिनि ने संबंध को कारक नहीं माना है। यह युक्तिसंगत भी है, क्योंकि संबंध का प्रत्यक्षतः कोई भी संबंध सीधे क्रिया-व्यापार से नहीं। निष्पन्न रूपों के अर्थ निर्णय के लिए कारकों का सैद्धांतिक ज्ञान अत्यावश्यक है। इसीलिए नीचे हम संक्षेप में इनका विवरण कारक-प्रकरण के संदर्भ सहित देना चाहेंगे :

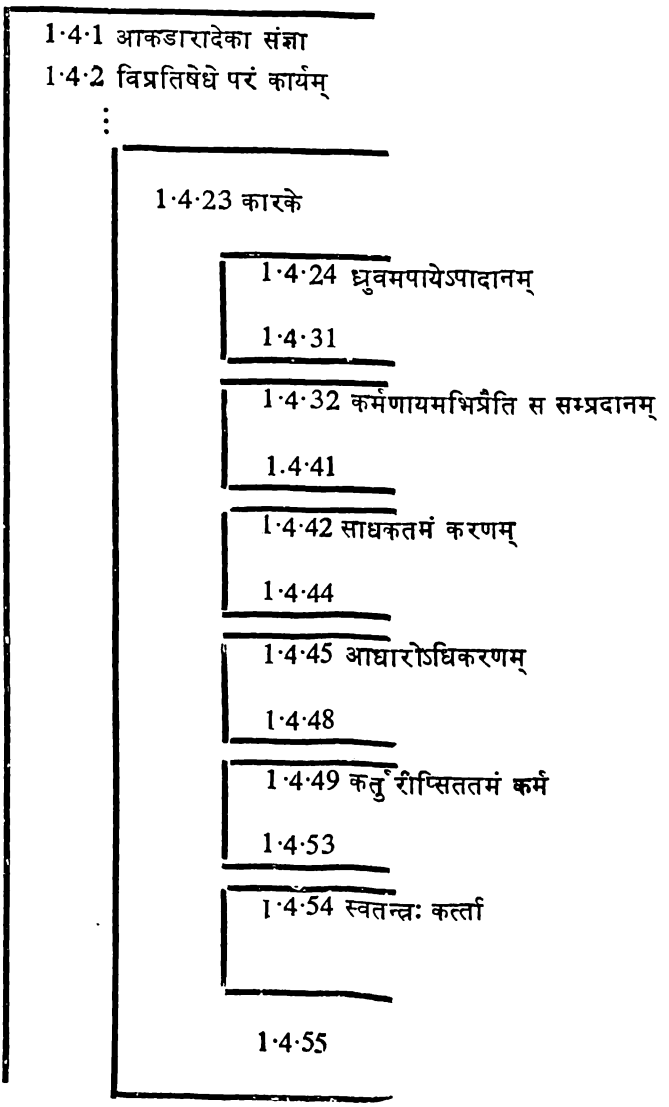
1·4·1 आकडारादेका संज्ञा
1·4·2 विप्रतिषेधे परं कार्यम्
1·4·23 कारके
1·4·24 ध्रुवमपायेऽपादानम्
1·4·31
1·4·32 कर्मणायमभिप्रैति स सम्प्रदानम्
1.4.41
1·4·42 साधकतमं करणम्
1·4·44
1·4·45 आधारोऽधिकरणम्
1·4·48
1·4·49 कर्तुरीप्सिततमं कर्म
1·4·53
1·4·54 स्वतन्त्रः कर्त्ता
1·4·55

कारक अमूर्त्त इकाइयाँ हैं। इन्हें व्याकरणिक इकाई माना जाए या अर्थ-मूलक--इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। इतना निर्विवाद है कि ये अमूर्त्त हैं और क्रिया व्यापार की सिद्धि में साधन हैं। इनकी परिभाषाओं में पाणिनि ने भाषिक रूपों और उनके अर्थ दोनों का ही सहारा लिया है, एतदर्थ इन्हें अर्ध व्याकरणिक (ouasi-grammatical) मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इनके अमूर्त्त होने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इन्हें भाषिक रूपों, यथा विभक्ति, प्रत्यय आदि द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

कारकों की परिभाषाएँ सामान्यतः उनके क्रिया व्यापार में साधनत्व की दृष्टि से दी गई हैं। इस प्रकार **अपादान** वह कारक है जो **अपाय** अर्थात् अलग होने की क्रिया गम्यमान होने पर ध्रुव या स्थिर हो। वाक्य (40·52) में **अपाय** का बोध **पतन** से होता है और स्पष्टतः **वृक्ष** ही इस क्रिया के गम्यमान होने पर **स्थिर** है, इसलिए इसकी **अपादान** संज्ञा होनी ही चाहिए। इसी तरह वाक्य (40·53) की **देना** क्रिया में **उपाध्याय** अथवा गुरु ही कर्त्ता का लक्ष्य है अथवा उसी के अभिप्राय की सिद्धि हो रही है, एतदर्थ उपाध्याय की **संप्रदान** संज्ञा हुई। क्रिया की सिद्धि में सबसे अधिक सहायक साधन की **करण** संज्ञा होती है। वाक्य (40·54) में **काटने** की क्रिया तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक तलवार साधन के रूप में उपलब्ध न हो। इसीलिए **असि** की **करण** संज्ञा उपयुक्त ही है। क्रिया की सिद्धि में **आधार** बनने वाले साधन की **अधिकरण** संज्ञा होती है और कर्त्ता द्वारा अत्यंत इच्छित (**ईप्सिततम**) अथवा अनिच्छित (**अनीप्सित**) साधन की **कर्म** संज्ञा होती है। वाक्य (40·55) में **पकाने** की क्रिया का आधार **स्थाली** (बटलोई) है और **कर्त्ता देवदत्त** की ईप्सिततम वस्तु चावल ही है, अस्तु **स्थाली** और **तंडुल** की क्रमशः **अधिकरण** और **कर्म** संज्ञाएँ होंगी।

क्रिया-व्यापार में साधनत्व की दृष्टि से दी गई ये परिभाषाएँ सामान्य पक्ष भर ही प्रस्तुत कर पाती हैं। शब्दों (लौकिक प्रयोगों) को प्रमाण मानकर चलने वाले वैयाकरण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अभिसंबंधों की प्रस्तुति इस दृष्टि से करे कि उनमें समस्त भाषिक रूपों को प्रतिनिधित्व मिल सके। ऊपर चर्चित परिभाषाएँ इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं कर पातीं, क्योंकि संस्कृत वाक्यों में कारकों के ऐसे बहुतेरे प्रयोग हैं जो इन परिभाषाओं की परिधि में नहीं आ पाते। ऐसे ही प्रयोगों को दृष्टि-पथ में रखकर पाणिनि ने उपर्युक्त परिभाषाओं में थोड़ा परिवर्तन-परिवर्धन भी किया। सामान्यतः ये परिष्कार विभिन्न लौकिक प्रयोगों को दृष्टि में रखकर दिए गए हैं, पर मुख्यतः इनका आधार विभिन्न क्रिया धातुएँ, उनके साधनभूत अन्य कारक (मुख्यतः कर्तृ, कर्म और करण) एवं उनके साथ प्रयुक्त हो सकने वाले उपसर्ग,

इत्यादि ही बने। उदाहरण के लिए इन वाक्यों को लीजिए :

(43·56) चौरेभ्यो रक्षति अथवा बिभेति।

(43·57) यवेभ्यो गां वारयति।

(43·58) गोमयाद् वृश्चिको जायते।

(43·59) हिमवतो गंगा प्रभवति।

(43·60) देवदत्ताय रोचते मोदकः।

(43·61) देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः।

(43·62) देवदत्ताय क्रुध्यति।

(43·63) देवदत्तमभिक्रुध्यति।

(43·64) अक्षान् अक्षैर्दीव्यति।

(43·65) पर्वतमध्यास्ते अथवा पर्वतमधिवसति।

(43·66) पाणिना कांस्य पात्र्यां गां दोग्धि पयः।

(43·67) गच्छति माणवको ग्रामम्।

(43·68) गमयति माणवकं ग्रामम्।

(43·69) यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति।

वाक्य (43·56) और (43·57) में **अपादान** संज्ञा का परिष्कार **भी** 'भय' **त्रा** 'रक्षा' और **वारण** 'रोकना' का अर्थ देने वाली क्रियाओं के संदर्भ में दिया गया है। (43·56) के अनुसार **भय** और **रक्षा** का अर्थ देने वाली क्रियाओं के प्रयोग में जिससे **भय** गम्यमान हो अथवा जिससे **रक्षा** की जाए उसकी अपादान संज्ञा होती है। इसी तरह **वारणार्थक** धातुओं के प्रयोग में **अभिलषित** वस्तु की भी **अपादान संज्ञा** मानी जाती है। चोरों से रक्षा या डर तथा जौ (के खेत में जाने) से गाय के रोके जाने की स्थितियाँ **चोर** तथा **जौ** की अपादान संज्ञाएँ निर्धारित करती हैं। (43·58) और (43·59) में परिष्कार का एक दूसरा ही पक्ष प्रस्तुत किया गया है। (43·58) में **जन्** धातु के **कर्त्ता** (**वृश्चिक**) की **प्रकृति** अथवा कारण (गोबर) को अपादान संज्ञा हुई है और (43·59) में **भू** धातु के कर्त्ता (**गंगा**) के उत्पत्ति स्थान (हिमालय) की।

इसी तरह (43·60) से (43·63) तक के वाक्यों में **संप्रदान** संज्ञा का परिष्कार लक्षित है। (43·60) में **रुचि** अर्थात् अभिलाषार्थक धातु के प्रयोग में प्रिय वस्तु (**मोदक**) को संप्रदान माना गया है और (43·61) में **धारि** (णिजन्त **धृञ्**) धातु के प्रयोग में ऋणदाता (देवदत्त) को संप्रदान संज्ञा की गई है। (43·62) में **क्रोध** (**द्रोह, ईर्ष्या** और **असूया**) का अर्थ देने वाली धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति (ऊपर) क्रोध हो उसकी संप्रदान संज्ञा लक्षित है, पर यदि ये धातुएँ किसी

**उपसर्ग** के साथ प्रयुक्त हों तो **संप्रदान** के स्थान पर **कर्म** संज्ञा होती है। वाक्य (43·63) इसका उदाहरण है।

वाक्य (43·64) में **दिव्** (खेलना) धातु के साधकतम कारक अर्थात् **अक्ष** (पांसा) की विकल्प से करण के स्थान पर **कर्म** संज्ञा का विधान किया गया है। इसी तरह (43·65) में उपसर्ग रहित प्रयोगों में क्रिया व्यापार का **अधिकरण** बनने वाले **पर्वत** की **अधिकरण** संज्ञा के स्थान पर सोपसर्ग प्रयोगों में **कर्म** संज्ञा का विधान लक्षित है।

वाक्य (43·66) में **कर्म** संज्ञा का विस्तार किया गया है। जिन स्थितियों का संकेत कारक प्रकरण में **अपादान, संप्रदान, करण** और **अधिकरण** के अंतर्गत नहीं दिया गया उन सभी में **कर्म** संज्ञा की उपस्थिति स्वीकार की गई। वाक्य (43·67) से (43·69) तक कारक संज्ञा के परिष्कार का एक अन्य ही पक्ष प्रस्तुत किया गया है। **गति, बुद्धि**, इत्यादि का अर्थ देने वाली धातुओं का प्रयोग जब **ण्यन्त** रूप में हो तो **अण्यन्त** स्थिति का कर्त्ता **कर्म** की संज्ञा प्राप्त करता है। (43·67) में **अण्यन्त** कर्त्ता **माणवक** है जो (43·68) के **ण्यन्त** प्रयोग में **कर्म** बन गया है।

सैद्धांतिक स्तर पर कारकों की सामान्य परिभाषाएँ देने के बाद पाणिनि ने विभिन्न भाषिक रूपों एवं अर्थ मूलक इकाइयों के संदर्भ में उनका परिष्कार बडे ही कौशल से किया है। अर्थ निर्णय में इन संज्ञाओं का योग इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक वाक्य के अर्थ में उसके पदों का अर्थ महत्वपूर्ण है और प्रत्येक पद के अर्थ में उनकी विभक्तियों का। विभक्तियाँ कारक संबंधों को भी अभिव्यक्ति देती हैं एतदर्थ अर्थ निर्णय की प्रक्रिया में कारकों को अचर्चित नहीं छोड़ा जा सकता।

पदों, विशेषतः नाम पदों, में दो प्रकार का अर्थ अंतर्भुक्त होता है : **प्रातिपदिकार्थ और पदार्थ**। ऐसे सभी पद जिनमें **प्रथमा** विभक्ति प्रयुक्त हो, प्रातिपदिकार्थ मात्र की ही अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे सभी पद जिनमें **षष्ठी** विभक्ति का प्रयोग हो, प्रायः कारकेतर संबंधों की अभिव्यक्ति करते हैं और **द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी** और **सप्तमी** क्रमशः **कर्म, कर्तृ/करण, संप्रदान, अपादान** और **अधिकरण** की अभिव्यक्ति करते हैं। पर यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि कारकों की अभिव्यक्ति हेतु उपर्युक्त विभक्तियों का प्रयोग तभी होता है जब **कृत्, तद्धित, समासादि** द्वारा उनकी अभिव्यक्ति पहले ही न की जा चुकी हो। क्योंकि विभक्ति प्रकरण के अधिकार-सूत्र **अनभिहिते** (2·3·1) की यही शर्त है। उदाहरण के लिए इस वाक्य को लीजिए :

**देवदत्तः कटं करोति**

यहाँ **ति** का प्रयोग **कर्तृ** की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है, एतदर्थ **देवदत्त**

के साथ **प्रथमा** का प्रयोग मात्र प्रातिपदिक (अर्थात् देवदत्त) का ही अर्थ अभिव्यक्त कर रहा है। **कर्म** (**कट**) की अभिव्यक्ति क्रियापद से नहीं हो रही है इसलिए **कट** के साथ **कर्म** की अभिव्यक्ति हेतु **द्वितीया** का प्रयोग किया गया है। पर इसके विपरीत यदि **क्रियते कटः देवदत्तेन** जैसा वाक्य लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि **कटः** यद्यपि **करना** क्रिया का कर्म है फिर भी उसके साथ **प्रथमा** ही प्रयुक्त है क्योंकि **क्रियते** (क्रियापद) द्वारा **कर्म** की अभिव्यक्ति की जा चुकी है। चूंकि यहाँ क्रिया द्वारा **कर्तृ** की अभिव्यक्ति नहीं हुई इसलिए **देवदत्त** के साथ कर्तृ अर्थ में **तृतीया** का प्रयोग हुआ। इसी तरह **कृतः कटः देवदत्तेन** जैसा वाक्य लें तो स्पष्ट हो जाएगा कि **कृतः** में **क्त** प्रत्यय **कर्म** की अभिव्यक्ति कर रहा है। यही कारण है कि **कटः** में **प्रथमा** है और **देवदत्त** में **कर्तृ** की अभिव्यक्ति हेतु तृतीया।

पर जिस प्रकार कारकों की परिभाषा में प्रयोगों की दृष्टि से तालमेल बिठाया गया उसी प्रकार विभक्ति प्रयोगों में भी परिवर्तन-परिवर्धन आवश्यक हो जाता है। ये परिवर्तन **क्रिया, निपात, उपपद,** इत्यादि विभिन्न प्रसंगों के संदर्भ में विवेचित हैं और विस्तारभय से यहाँ उनका विवरण नहीं दिया जा सकता।

अब तक के विवरणों के आधार पर वाक्यों का अर्थ निर्णय करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है :

(45·70) विवक्षा की मूल इकाइयाँ : यथा,
[अ] [ब] [स] इत्यादि।

(45·71) शब्दकोश से समांतर इकाइयों का चयन और संज्ञा संकेत : यथा,

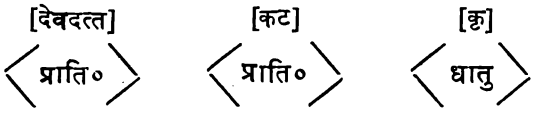


(45·72) क्रिया द्वारा कारकत्व का द्योतन और क्रिया व्यापार में कारकत्व निर्णय : यथा,

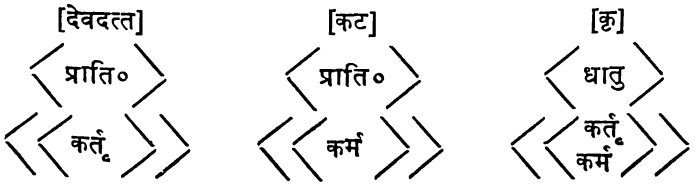

(46·73) कारकों की अभिव्यक्ति : यथा,

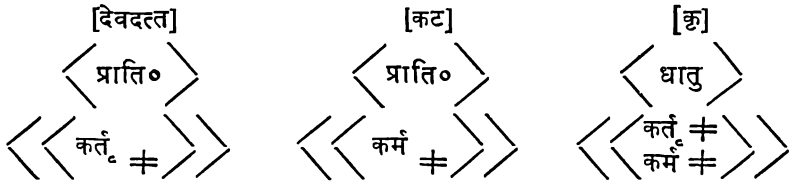


(46·74) निष्पत्ति वृत्त और क्रिया द्वारा कारकाभिव्यक्ति निर्णय

(46·75) प्रातिपदिकों (व्युत्पन्न/अव्युत्पन्न) द्वारा कारक/कारकेतर अभिव्यक्तियाँ

इन सबके अतिरिक्त अर्थ निर्णय में प्रत्ययों, विभिन्न भाषिक रूपों इत्यादि के व्याकरणिक स्पष्टीकरणों एवं समस्त भाषिक रूपों के शब्दकोशीय अर्थ एवं उनके निष्पत्ति वृत्त द्वारा प्राप्त अर्थ संकेतों को भी लेना आवश्यक होगा, तब कहीं वाक्यार्थ निर्णय संभव हो पाएगा।

ऊपर के विवरणों में साधारण पदों और उनके समवाय के अर्थ निर्णय पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। पर संस्कृत भाषा की प्रकृति को देखते हुए **कृदंत, तद्धितांत** एवं **समस्त** पदों के अर्थ निर्णय की प्रक्रिया पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः ऐसे पदों का विवरण **पदविधि** के अंतर्गत दिया गया है और पदविधि के लिए **सामर्थ्य** का होना पहली शर्त है।

**सामर्थ्य** शब्द को स्पष्ट करते हुए **पदमञ्जरी**[1] इसे 'संबद्धार्थता' के रूप में स्वीकार करती है। 'संबद्धार्थता' वाक्यार्थ का विषय है, शब्दार्थ का नहीं।[2] पदमञ्जरी के ही अनुसार वाक्यों में (1) प्रत्येक पद अपने प्रातिपदिकार्थ की अभिव्यक्ति तो करता ही है, साथ ही (2) दूसरे पदों के साथ अपने अंतरावलंबन के अभिसंबंध को भी अभिव्यक्ति देता है। इस तरह के अभिसंबंध को **व्यपेक्षा** अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पदों के बीच एक-दूसरे की आकांक्षा का नाम दिया गया है। पर कुछ पदों के बीच एक-दूसरे से इतना अधिक नैकट्य होता है कि वे एक-दूसरे के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं और उनका परस्पर संबंध **'एकार्थीभाव'** का हो जाता है। यही **एकार्थीभाव** संबंध **सामर्थ्य**

---

[1] देखिए—**काशिका**, (भाग : 1, पृ० 443, सूत्र 2·1·1 पर)।
[2] और भी, वही, (भाग : 3, पृ० 393, सूत्र 4·1·82 पर)।

शब्द से अभिप्रेत है। सामर्थ्य संबंध द्वारा एकीकृत पदों को संरचना की दृष्टि से **'वृत्ति'** के नाम से भी पुकारा जाता है।

ऊपर चर्चित धारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणों पर ध्यान दीजिए :

(47·76) उपगोरपत्यं आनय

(47·77) औपगवं आनय

(47·78) वस्त्रं उपगोः अपत्यं देवदत्तस्य

(47·76) और (47·77) का अर्थ एक ही है पर संरचना की दृष्टि से दूसरा वाक्य, विशेषतः उसका **कर्म**, अत्यधिक संश्लिष्ट है। **उपगोः** और **अपत्यम्** दो पद हैं जो अपने-अपने प्रतिपदिकार्थ की अभिव्यक्ति करने के साथ ही साथ वाक्य स्तरीय अभिसंबंध की भी अभिव्यक्ति करते हैं। किंतु क्रिया के साथ सीधा संबंध **अपत्य** का ही है, **उपगु** का नहीं। इसीलिए **उपगु** इस वृत्ति-प्रक्रिया के संदर्भ में अप्रधान या **उपसर्जन** है और अपत्य प्रधान। इसके साथ ही साथ **उपगु** (व्यक्ति) विशेष अर्थ का वाचक है और **अपत्य** सामान्यार्थवाची। यदि **उपगु**, **अपत्य** और **आनय** के संबंधों पर दृष्टि डाली जाए तो उसे इस रूप में भी समझा जा सकता है :

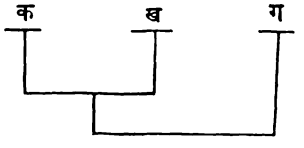


यहाँ **क, ख, ग** क्रमशः **उपगु, अपत्य** और **आनय** का प्रतिनिधित्व करते हैं। (47·77) में पूर्व वाक्य के अर्थ को ही अभिव्यक्ति दी गई है पर संरचना की दृष्टि से केवल दो इकाइयों का ही उपयोग किया गया है :

यहाँ **अ** से ऊपर की **क ख** दोनों ही इकाइयाँ संयुक्त रूप से अभिप्रेत हैं और ब = ग है। इस संरचना में हुआ यह है कि एक अप्रधान पद अपने अर्थ को प्रधान पद के अर्थ में स्थानांतरित कर देता है और इस तरह उसके साथ एकीकृत होकर प्रधान की

ही अर्थाभिव्यक्ति करने लगता है। यही तात्पर्य पदमञ्जरी के '....**उपसर्जनपदानि स्वार्थमुपसर्जनीकृत्य प्रधानार्थ-पराणि भवन्ति**' वाक्य से अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि समस्त पदों, कृदंतों और तद्धितों के अर्थ निर्णय में उनके समूचे निष्पत्ति वृत्त के साथ ही साथ सामर्थ्य की स्थिति, वृत्ति-प्रक्रिया और व्याकरणिक संकेतों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। संक्षेप में अर्थ निर्णय के लिए यही बातें अनिवार्य हैं।

अर्थ निर्णय का उपर्युक्त विवरण केवल स्पष्टीकरण की दृष्टि से दिया गया है। सच तो यह है कि किसी भी वाक्य का निष्पत्ति वृत्त सामने रखने पर के प्रयोगों की और निष्पत्ति के विभिन्न स्तर स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं और यदि सभी सूत्र प्रयोगों की सम्मिलित सूचनाएँ एक विशिष्ट क्रम में एकत्र की जाएँ तो वाक्यार्थ निर्णय में कोई विशेष कठिनाई नहीं उत्पन्न होनी चाहिए।

# संदर्भ-ग्रंथ सूची


Cardona, George (1967): "Negations in Pāṇinian Rules." **Language** 43 : 34-56.

— (1969 a): "Pāṇini's Description and Use of **Svarita.**" **Pratidānam** (Festschrift F. B. J. Kuiper) : The Hague : Mouton. pp. 448-61.

— (1969 b): "Studies in Indian Grammarians : I. The Method of Description Reflected in the Sivasūtras." *Transactions of the American Philosophical Society.* New Series : Vol. 59, Part I. Philadelphia : American Philosophical Society.

— (Forthcoming): "Some Features of Pāṇinian Derivations. To Appear in : *History of Linguistic Thought and Transformational Grammar.* Edited by H. Pareet.

Rogers, David Ellis (1969): *"Pāṇini's Context of Kārakas."* Ann Arbor : University of Michigan, Ph.D. Dissertation.

Sharma, Rama N. (1971): *"Padavidhi in Pāṇini."* Rochester : University of Rochester, Ph.D. Dissertation.

— (Forthcoming): "Referential Indices in Pāṇini." **Indo-Iranian Journal.**

— (Forthcoming) "Word Derivation in Pāṇini. Originally Scheduled for Presentation at the 1975 : Nottingham Meeting of the European Linguistic Society."

Van Nooten, Barend A. A.J. (1970) "The Vocalic Declensions in Pāṇini's Grammar." **Language.** 46 : 13-32.

**अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्ति, खंड 1-3**

श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और प्रज्ञा देवी कृत हिंदी अनुवाद सहित।
अमृतसर : रामलाल कपूर ट्रस्ट : 1964-1968

**काशिकावृत्ति (जिनेन्द्र बुद्धि कृत न्यास और हरदत्त कृत पदमञ्जरी सहित) खंड 1-6**

सपादक : स्वामी डी. डी. शास्त्री
वाराणसी : 1965-1967

**धर्मकीर्ति कृत रूपावतार , खंड 1-2**

संपादक : एम. रङ्गाचार्य
मद्रास : जी. ए. नटेशन एंड कंपनी 1916, 1927

**पतञ्जलि कृत व्याकरण महाभाष्य (कैय्यट कृत प्रदीप और नागेश कृत उद्योत सहित) खंड 1-5**

गुरुकुल झज्जर (रोहतक) 1962-1963

Library IIAS, Shimla
00095169

मुद्रक : मेहरा आफसेट प्रेस, आगरा. टेलीफोन : 72010